

॥ ओ३म् ॥

अथ वेदाङ्गप्रकाशः

★ तत्रत्यः प्रथमो भागः ★

वर्णोच्चारणशिक्षा

पाणिनिमुनिप्रणीता

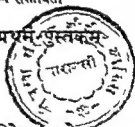
भीमत्त्वामिन्द्रयानन्दसरस्वतीकृतव्याख्यासहिता ।

श्रीपण्डितदुधिद्विरमीमांसकेन संशोधिता

पठनपाठनव्यवस्थायां प्रथम पुस्तकम्

प्रकाशक—

शार्य साहित्य मण्डल लिमिटेड, अजमेर.



द्वितीय संस्करण

मुद्रक—

शिरीशचन्द्र शिवहरे, एम०
फाइन आर्ट प्रिंटिंग प्रेस, अजं

भूमिका

मुझको इस पुस्तक का प्रकाश करना आवश्यक प्रिदित इसलिये हुआ है कि आज कल देवनागरी वर्णों के उच्चारण में यद्बुधा जो जो गड़बड़ हुई है उस उस को छोड़ कर यथायोग्य वर्णों का उच्चारण मनुष्य करें। जैसे झ, इममें ज् + ब् + आ, ये तीन अक्षर मिले हैं इनका उच्चारण भी जकार, बकार और आकार ही का होना चाहिये, किन्तु ऐसा न हो कि जैसे दक्षिणात्य लोग अर्थान् द्राविड, तैलङ्ग, करणाटक और महाराष्ट्र "इनान", गुजराती लोग "ग्यान" और पञ्चगौड़ "ग्यान" ऐसा अशुद्ध उच्चारण अन्ध परम्परा से वेदादिशास्त्रों के पाठ में भी करते हैं। ऐसे ही पञ्चगौड़ प्रायः "प" के स्थान में "स" का और कोई कोई "र" का और "य" के स्थान में "ज" का उच्चारण करते हैं। वैसे ही बंगाली लोग "प" और "स" के स्थान में भी "श" का उच्चारण किया करते हैं। यह अन्ध परम्परा नष्ट होकर शुद्धोच्चारण की परम्परा होनी योग्य है। और जैसे पाणिनिकृत शिक्षा में तिरसठ अक्षर वर्णमाला में माने हैं उनकी गणना पूरी करने के लिये कई एक लोगो ने "कुं, लुं, गुं, पुं" इन चार को यम मान के तिरसठ अक्षर पूरे किये हैं। भला यहाँ पविचारना चाहिये कि जब पूर्वोक्त यम रहे तो "कुं, लुं, गुं, पुं, उं, उं" ऐत्यादि यमक्यों न हो, और जो कोई बहे कि (पलिङ्गी, परम्परा,)

जगृग्मि', जव्वन्नु') इत्यादि में "क् ख् ग् घ्" ये वर्ण यम कर्त्ता और प्रातिशाख्य में प्रसिद्ध हैं तो क्या इस बात को वे नहीं जानते कि वे वर्णान्तर कभी नहीं हो सकते, क्योंकि वे तो कवर्ग में पड़े ही हैं।

१. तथा अपाणिनीय शिक्षा को पाणिनिवृत्त मान के पाठ किया करते और उसको वेदांग में गिनते हैं। क्या वे इतना भी नहीं जानते कि "अथ शिक्षां प्रवक्ष्यामि पाणिनीयं मतं यथा" अर्थ—मैं जैसा पाणिनि मुनि की शिक्षा का मत है वैसी शिक्षा करूँगा। इस में स्पष्ट विदित होता है कि यह ग्रन्थ पाणिनि मुनि का बनाया नहीं, किन्तु किसी दूसरे ने बनाया है। ऐमे २ भ्रमों की निवृत्ति के लिए बड़े परिश्रम से पाणिनिमुनिवृत्त शिक्षा का पुस्तक प्राप्त कर उन सूत्रों में सुगम भाषा में व्याख्या करके वर्णोच्चारण विद्या की शुद्ध प्रसिद्धि करता हूँ कि मनुष्यों को थोड़े ही परिश्रम से वर्णोच्चारणविद्या को प्राप्ति शीघ्र हो जावे।

इस ग्रन्थ में जो २ बड़े अक्षरों में पाठ है वह २ पाणिनिमुनिवृत्त और मध्यम अक्षरों में अष्टाध्यायी और महाभाष्य का पाठ और जो २ छोटे अक्षरों में छपा है वह मेरा बनाया है, ऐसा सर्वत्र समझना चाहिए ॥

इति भूमिका समाप्त

ह० दयानन्द मरस्वती (काशी)

दो शब्द

वर्णोच्चारण-शिक्षा, वेदांगप्रकाश और पठनपाठन व्यवस्था में प्रथम पुस्तक है। पाणिनि मुनिकृत शिक्षा सूत्रों के स्थान में आधुनिक श्लोकबद्ध शिक्षा का प्रचार हो जाने से ये शिक्षा सूत्र नष्ट हो गये थे। अपि दयानन्द ने भूमिका में स्वयं लिखा है—“बड़े परिश्रम से पाणिनि मुनिकृत शिक्षा का पुस्तक प्राप्त कर।” इस लेख से स्पष्ट है कि उन्हें इस शिक्षा का कोई हस्तलेख प्राप्त हुआ था। महाशोक की बात है कि वह हस्तलेख अपि के वर्तमान संप्रदाय में हमें उपलब्ध नहीं होता। अपि के संगृहीत बहुत से हस्तलिखित ग्रन्थ नष्ट हो चुके हैं। आज तक इस शिक्षा का दूसरा हस्तलेख प्राप्त नहीं हुआ। किन्तु बड़े हर्ष की बात है कि इस शिक्षा से प्राचीन महर्षि आपिशलि के शिक्षा सूत्र प्राप्त हो गये हैं और छप भी गये हैं। आपिशलि के शिक्षा सूत्र इस पाणिनीय शिक्षा के सूत्रों से बहुत मिलते हैं। प्रारम्भ के छः प्रकरणों में बहुत ही स्वल्प भेद है। इन दोनों शिक्षा सूत्रों की तुलना से स्पष्ट होता है कि पाणिनिशिक्षा का जो हस्तलेख अपि दयानन्द को प्राप्त हुआ था, वह अपूर्ण और अव्यवस्थित था।

जिस प्रकार पाणिनीय और आपिशलि शिक्षा सूत्र परस्पर मिलते हैं, इसी प्रकार पाणिनीय व्याकरण और आपिशलि व्याकरण दोनों के सूत्र भी परस्पर बहुत मिलते हैं और पाणिनीय व्याकरण के सदृश आपिशलि व्याकरण में भी आठ अध्याय थे।

मथुराप्रसाद शिवदरे,
मैनेजिंग डाइरेक्टर

• इस पुस्तक की दूसरी प्रति प्राप्त हो गई है। उसके साहाय्य से यह दुर्लभ ग्रन्थ पूर्ण हो जाता है। इसका भाषानुवाद सहित प्रकाशन शीघ्र ही किया जाएगा।

ॐ श्रीगुरुभ्यो नमः ॐ

अथ वर्णोच्चारणशिक्षा

(प्रश्न) वर्ण वा अक्षर किनको कहते हैं ?

१-(उत्तर) अक्षरं नक्षरं विद्यादभोतेर्वा सरोज्जरम् ।

वर्णं वाहुः पूर्वसूत्रे किमर्थमुपदिश्यते ॥

महामाण्ड्य अ० १ । पा० १ । आ० २ ॥

मनुष्य (अक्षरं नक्षरम्) जो सर्वत्र व्याप्त जिन का कभी विनाश नहीं होता (वर्ण वाहुः पूर्वसूत्रे) अथवा जिनको पूर्वसूत्र में वर्ण और अक्षर कहते हैं। (विद्यात्) उनको प्रयत्न से जानें।

(प्रश्न) किसलिए इनका उपदेश किया जाता [है] ?

२-(उत्तर) वर्णज्ञानं वाग्विषयो यत्र च ब्रह्म वर्तते ।

तदर्थमिष्टबुद्धयर्थं लघ्वर्थं चोपदिश्यते ॥

सौष्ठमक्षरसमाज्ञायो वाक्समाज्ञायः पुष्पितः

१. महाप्यायी के 'अ इ उ ण्' आदि सूत्रों के व्याख्यान में यह कारिका है, व्याकरण की अपेक्षा में शिक्षा पूर्वसूत्र और उस में भी सम-क्षरं इसकी अपेक्षा में पूर्व आकाशवायु इस सूत्र में वर्ण का व्याख्यान।

महामाण्ड्य में पूर्वसूत्र शब्द का व्यवहार ५, ६ स्थानों पर हुआ है। उन सब स्थानों का तुलनात्मक अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि पूर्वसूत्र शब्द से किन्हीं प्राचीन व्याकरण सूत्रों की ओर संकेत है। यु० भी०

फलितश्चन्द्रतारकवत् प्रतिमण्डितो वेदितव्यो ब्रह्मराशि
सर्ववेदपुण्यफलावाप्तिश्चास्य ज्ञाने भवति ॥

महामाध्य अ० १ । पा० १ । आ० २ ॥

मनुष्य (यत्र) जिसमें (ब्रह्म च) शब्द ब्रह्म वेद और परब्रह्म
को प्राप्त हों (वाग्विषय) और वे जो वाणी का विषय अर्थात्
(वर्णज्ञानम्) वर्णों का यथार्थ विज्ञान है उसको जान सकें (ब्रह्मार्थम्)
इस इष्ट बुद्धि अर्थात् वर्णों का यथार्थ अभीष्ट ज्ञान और स्वल्प
प्रयत्न से महालाभ को प्राप्त होने के लिये अक्षरों का अभ्यास उच्चारण
की रीति प्रसिद्ध की जाती है ।

सो यह अक्षरों का अच्छे प्रकार कथन वाक्समाग्राय है अर्थात्
अपने शब्दरूपी पुष्प फलों से युक्त चन्द्र और तारकों के समान
सुशोभित आकाश में स्थित (राशि) शब्दों का समुदाय ब्रह्मराशि
जानने योग्य है और इसके यथार्थज्ञान में सम्पूर्ण वेदों का फल
प्राप्त होते हैं ।

इससे वर्णों के ठीक उच्चारण से सुनने में प्रीति और धर्म
की निवृत्ति होती है । इसलिए यह वर्णोच्चारण विद्या अवश्य जाननी
चाहिये ।

(प्रश्न) वर्णों का रूप कैसे प्रकट होता है ?

३-(उत्तर)

आकाशवायुप्रभवः शरीरात् समुच्चरन् वक्त्रमुपैति नादः ।

स्थानान्तरेषु प्रविध्यमानो वर्णत्वमागच्छति यः स शब्दः ॥१॥

५. आकाश और वायु के संयोग से उत्पन्न होनेवाला नाभि के नीचे से ऊपर उठता हुआ जो मुख को प्राप्त होता है उसको नाद कहते हैं वह कण्ठ आदि स्थानों में विभाग को प्राप्त हुआ वर्ण भाव को प्राप्त होता है, उसको शब्द कहते हैं ।

४-(उत्तर) आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया ।
मन कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मूर्तम् ॥
भास्वस्तूरसि चरन्मन्द जनयति स्वरम् ॥

जीवात्मा बुद्धि से अर्थों की संगति करके कहने की इच्छा से मन को युक्त करता [है], विद्युत् रूप मन जाठराग्नि को ताड़ता [है], वह वायु को प्रेरणा करता [है] और वायु चर स्थल में विचरता हुआ मन्द स्वर को उत्पन्न करता है ।

(प्रश्न) शब्द का स्वरूप कैसा है ? किस फल को प्राप्त करता और किन पुष्पों से सेवित है ?

५-(उत्तर)

तमक्षर ऋषि परं पवित्र गुहाशय सम्यगुपशन्ति विप्रा ।
स श्रेयसा चाम्युदयेन चैव सम्यक् प्रयुक्तः पुरुष युनक्ति ॥२॥

(विप्राः) विद्वान् लोग (तम्) उस आकाशवायु प्रतिपादित (अक्षरम्) नाशरहित (गुहाशयम्) विशालशिक्षासहित बुद्धि में स्थित (परम्) अत्युत्तम (पवित्रम्) शुद्ध (ऋषि) शब्दराशि की

(सम्यक्) अच्छे प्रकार (उशन्ति) प्राप्ति की कामना करते हैं और (स एव) वही (सम्यक् प्रयुक्तः) अच्छे प्रकार प्रयोग किया हुआ शब्द (अभ्युदयेन) शरीर, आत्मा, मन (च) और स्वसम्बन्धियों के लिये इस ससार के सब सुख तथा (श्रेयसा) विद्यादि शुभ गुणों के योग (च) और मुक्तिसुख से (पुरुषम्) मनुष्यों को (युनक्ति) युक्त कर देता है। इसलिए इस वर्णोच्चारण की श्रेष्ठ शिक्षा से शब्द के विज्ञान में सब लोग प्रयत्न करें।

शब्द का लक्षण

६—ध्रोत्रोपलब्धिर्बुद्धिनिर्माह्य प्रयोगेणाभिज्वलित आकाशदेश शब्दः ॥

महामा० अ० १। पा० १। सू० २। आ० २॥

यह 'अ इ उ ए' सूत्र की व्याख्या में लिखा है कि (ध्रोत्रोप-लब्धिः) जिसका कान इन्द्रिय से ज्ञान और (बुद्धिनिर्माह्य) बुद्धि से निरन्तर ग्रहण और (प्रयोगेणाभिज्वलित) जो उच्चारण से प्रकाशित होता तथा (आकाशदेशः) जिसके निवास का स्थान आकाश है (शब्दः) वह शब्द कहा जाता है।

(प्रश्न) वर्णमाला में कितने वर्ण हैं ?

७—(उत्तर) त्रिषष्टि ॥ ३ ॥

त्रिसठ हैं। और वे अकारादि वर्णों में विभक्त हैं जैसे—

अकारादि स्वरों का स्वरूप

ह्रस्व दीर्घ			प्लुत	कवर्ग—क ख ग घ ङ । चवर्ग—च छ ज झ ञ । टवर्ग—ट ठ ड ढ ण । तवर्ग—त थ द ध न । पवर्ग—प फ ब भ म । अन्तस्थ—य र ल व । ऊष्म—श ष स ह ।
अ	आ	अ ३		
इ	ई	इ ३		
उ	ऊ	उ ३		
ऋ	ॠ	ऋ ३		
ए	ॡ	ए ३		
०	ऐ	ऐ ३		
०	ओ	ओ ३		
०	औ	औ ३		

अयोगवाहरूप

• विसर्जनीय	१ ह्रस्व
× जिह्वामूलीय १	२ दीर्घ
× उपध्मानीय २	३ अनुनासिक चिह्न
• अनुस्वार	४ छ और यह अक्षर

इनको चार यम भी कहते हैं
 १ [क, ख परे रहने पर]
 २ [प, फ परे रहने पर]

उक्त वर्णों में अवर्ग के वर्ण अकार आदि स्वर और कवर्ग आदि वर्णों के वर्ण व्यञ्जन कहाते हैं। स्वर वर्ण शब्दों में शुद्ध स्वरूप से भी रहते और व्यञ्जनों के साथ में मात्रारूप भी आते हैं, मात्रारूप स्वरों में जब व्यञ्जन मिलाये जाते हैं तब प्रत्येक व्यञ्जन बारह प्रकार से कहा जाता है उसका स्वरूप और सयोगचक्र (जिससे कि व्यञ्जन का परस्परसम्बन्ध विदित होता है) आगे लिखते हैं—

वारह अक्षरों का स्वरूप

क	ख	ग	घ	ङ	च	छ	ज	झ	ञ	ट	ठ
अ	आ	इ	ई	उ	ऊ	ए	ऐ	ओ	औ	अं	अः
।	।।	।	।	।	।	।	।	।	।	।	।
क	ख	ग	घ	ङ	च	छ	ज	झ	ञ	ट	ठ

संयोगचक्रम्

क ख ग घ	ङ च छ ज	झ ञ ट ठ	ड ध न प
क ख ग घ	ङ च छ ज	झ ञ ट ठ	ड ध न प
क ख ग घ	ङ च छ ज	झ ञ ट ठ	ड ध न प

स्वरों की संज्ञाएं

६-ऊर्कालोऽम्बुस्वदीर्घप्लुतः ॥ अ० १। पा० २। सु० २७॥

स्वरों की ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत भेद से तीन संज्ञा हैं। इनके उच्चारण समय का लक्षण यह कि जितने समय में अङ्गुष्ठ के मूल की नाड़ी की गति एक बार होती है उतने समय में ह्रस्व, उससे दूने काल में दीर्घ और उसके तिगुने काल में प्लुत का उच्चारण करना चाहिये।

और स्वरों के उदात्तादि भी गुण हैं—

१०-उर्ध्वरुदात्तः ॥ अ० १। २। २६ ॥

ऊर्ध्व ध्वनि से उदात्त और—

११-नीचरुदात्तः ॥ अ० १। २। ३० ॥

नीचे स्वर से अनुदात्त बोला जाता है।

१२-समाहारः स्वरितः ॥ अ० १। २। ३१ ॥

उदात्त और अनुदात्त स्वरों को मिलाकर बोलना स्वरित कहा जाता है।

१३-ह्रस्वं लघु ॥ अ० १। ४। १० ॥

ह्रस्व स्वर की लघु संज्ञा और—

१४-संयोगे गुरु ॥ अ० १। ४। ११ ॥

जो दो वा अधिक व्यञ्जनों का संयोग परे हो सो पूर्व ह्रस्व अच् की गुरु संज्ञा होती है। जैसे 'विप्रः' यहां वकार के इकार की गुरु संज्ञा है क्योंकि इसके परे पकार और रेफ का संयोग है।

१५-दीर्घं च ॥ अ० १। ४। १२ ॥

और दीर्घ की भी गुरु संज्ञा है।

१६-हलोऽनन्तरा संयोग ॥ अ० १ । १ । १७ ॥

अनन्तर अर्थात् अचों का जो व्यवधान उससे रहित हलों की संयोग संज्ञा है ।

व्यञ्जन का लक्षण

१७-अन्वग्भवति व्यञ्जनमिति ॥ म० भा० ॥

अ० १ । पा० २ । सू० २६ । आ० १ ॥

जिनका उच्चारण बिना स्वर के नहीं हो सकता वे व्यञ्जन कहते हैं ।

उच्चारण करने वालों के गुण

१८-माधुर्यमक्षरव्यक्ति पदच्छेदस्तु सुस्वर ।

धैर्यं लयसमर्थं च पठेते पाठका गुणा ॥

(माधुर्यम्) वर्णों के उच्चारण में मधुरता (अक्षरव्यक्ति)
भिन्न भिन्न अक्षर (पदच्छेद) पृथक् २ पद (तु) और (सुस्वर)
सुन्दर ध्वनि (धैर्यम्) धीरता (च) और (लयसमर्थम्) विराम यथा
सार्थकता और जैसा ह्रस्व दीर्घ प्लुत उदात्त अनुदात्त स्वरित स्वर स्पर्श
आदि अभ्यन्तर और विवारादि बाह्य प्रयत्न से अपने अपने स्थानों
में वर्णों का उच्चारण करना तथा सत्यभाषणादि भी वर्णों के
उच्चारण करने वालों के गुण हैं ।

स्वरो के उच्चारण में दोष

१९-अस्त निरस्तमविलम्बित निहितमभ्रूकृत ध्मातमयो
विवम्पितम् । सन्दष्टमेणीवृत्तमर्दक द्रुत विकीर्णमेता-
स्वरदोषभावना ॥

महामाध्य अ० १ । पा० १ । आ० १ ॥

(प्रस्ताम्) जैसे किसी वस्तु को मुख से पकड़ कर बोलना,
(निरस्ताम्) जैसे किसी वस्तु को मुख से ग्रहण कर के फेंक देना,
(अविलम्बितम्) जिस का उच्चारण पृथक् पृथक् करना चाहिये
उसको वर्णान्तर में मिला के बोलना, (निर्हेतुम्) जैसे किसी को
घका देना, (अभ्यूकृतम्) जैसे मुख में जल भरके बोलना, (ध्मातम्)
जैसे रुई को धुनना वा लोहार की भट्टी के समान उच्चारण करना,
(विकम्पितम्) जैसे कम्प करके बोलना, (सन्दष्टम्) जैसे किसी
वस्तु को दातों से काटते हुए बोलना, (एणीकृतम्) जैसे हरिण
रूद के चलते हैं वैसे ऊपर नीचे ध्वनि से बोलना, (अर्धकम्)
जितने समय में जिस वर्ण का उच्चारण करना चाहिये उसके आधे
समय में बोलना, (द्रुतम्) त्वरा से बोलना, (विकीर्णम्) जैसे
कौई वस्तु बिखर जाय जैसा उच्चारण करना । ये सब दोष स्वरों के
उच्चारण करनेहारों के हैं ।

२०—अतोऽन्ये व्यञ्जनदोषा । शश पप इति मा भूत् ।

पलाशः पलाप इति मा भूत् । मञ्चको मञ्चक इति मा भूत् ।

महामाध्य अ० १ । पा० १ । आ० ११

व्यञ्जनों के उच्चारण में भी दोषों को छोड़कर बोलना चाहिये ।
जैसे (शशः) इन तालव्य शकारों के उच्चारण में (पप इति मा भूत्)
मूर्धन्य पकारों का उच्चारण करना, (पलाशः पलाप) यहाँ भी पूर्व-
वत् जानना (मञ्चकः) इस च के स्थान में (मञ्चक) ज का
उच्चारण करना, इत्यादि व्यञ्जनों के उच्चारण करनेहारों के दोष
कहाते हैं । इसलिए जिस जिस अक्षर का जो जो स्थान, प्रयत्न और
उच्चारण का प्रभ है, वैसा ही उस उस का उच्चारण करना योग्य है ।

(प्रश्न) इस ग्रन्थ में कितने श्रवण हैं ?

२१-(उत्तर)

स्थानमिदं करणमिदं प्रयत्न एषो द्विधाऽनिलः ।

स्थानम् पीडयति वृत्तिकारः प्रक्रम एषोऽयं नाभितलात् ॥४॥

१ स्थान, २ करण, ३, आभ्यन्तर प्रयत्न, ४ बाह्य प्रयत्न, ५ स्थान में वायु का ताडन, ६ वृत्तिकार, ७ प्रक्रम और ८ नाभि के अधोभाग से वायु का उत्थान, ये आठ प्रकरण क्रम से इस ग्रन्थ में हैं।

अथ प्रथम प्रकरणम्

२२-अकुहविसर्जनीया कण्ठ्याः ॥ ५ ॥

अ, आ, अइ, कु अर्थात् क, ख, ग, घ, ङ, ह और विसर्जनीय इन वर्णों का कण्ठ स्थान है। अर्थात् जो जिह्वा का मूल कण्ठ का अप्रभाग काकल्क के नीचे देश है उस कण्ठ स्थान से इनका शुद्ध उच्चारण होता है।

२३-हविसर्जनीयावुरस्यावेकेषाम् ॥ ६ ॥

कई एक आचार्यों का ऐसा मत है कि हकार और विसर्जनीय का उच्चारण उर ध्यान अर्थात् कण्ठ के नीचे और स्तनों के ऊपर स्थान से करना चाहिए।

२४-जिह्वामूलीयो जिह्वयः ॥ ७ ॥

और वे ऐसा भी मानते हैं कि जिसलिए जीभ के मूल से इस जिह्वामूलीय का उच्चारण होता है इसलिए यह जिह्वामूलीय कहा जाता है।

२५-कवर्गः ऋवर्णश्च जिह्वयः ॥ ८ ॥

तथा उनका यह भी मत है कि जिस कारण कवर्ग और ऋवर्ण अर्थात् ह्रस्व, दीर्घ और ण्वुव का जिह्वामूल भी स्थान है, इससे इनको जिह्वा की जड़ में से भी बोलना अशुद्ध नहीं।

२६-सर्वमुखस्थानमवर्णमित्येके ॥ ६ ॥

जिसलिये अवर्ण का उच्चारण सत्र मुख में करना शुद्ध है इसलिये कोई आचार्य अवर्ण को सर्वमुखस्थान वाला कहते हैं।

२७-कण्ठ्यानास्यमात्रानित्येके ॥ १० ॥

सथा कई एक आचार्यों का मत ऐसा भी है कि जिन जिन वर्णों का कण्ठ स्थान है उन सब का उच्चारण मुखमात्र में होना भी अशुद्ध नहीं।

२८-इचुयशास्तालव्याः ॥ ११ ॥

जो इ, ई, इ३, चु अर्थात् च, छ, ज, झ, ञ, य और श हैं इनका तालु स्थान अर्थात् दातों के ऊपर से उच्चारण करना चाहिये, जैसे च के उच्चारण में जिस स्थान में जैसी जीभ की क्रिया करनी पड़ती है वैसे शकार का उच्चारण करना योग्य है।

२९-ऋदुरपा मूर्धन्याः ॥ १२ ॥

ऋ, ॠ, ॡ, ऌ, ॡ, य, र और प का उच्चारण मूर्धो स्थान अर्थात् तालु के ऊपर से करना चाहिए। जैसी क्रिया ऌ के उच्चारण में की जाती है वैसी ही प के उच्चारण में करनी उचित है।

३०-रेफो दन्तमूलीय एकेषाम् ॥ १३ ॥

कई एक आचार्यों का ऐसा मत है कि र का उच्चारण दांत के मूल से भी करना योग्य है।

३१-दन्तमूलस्तु तवर्गः ॥ १४ ॥

वैसे ही कई एक आचार्यों के मत में तवर्ग अर्थात् त, थ, द, ध, और न का उच्चारण दन्तमूल स्थान से भी करना अच्छा है।

३२-लतुलसा दन्त्याः ॥ १५ ॥

लृ, लृरे, लृ अर्थात् ल, थ, द, ध, न, ल और स इन वर्णों का दन्तस्थान अर्थात् दातों में जिह्वा लगा के उच्चारण करना है ।

३३-वकारो दन्त्यौष्ठ्य ॥ १६ ॥

व का उच्चारण दाँत और ओष्ठ से होना चाहिये ।

३४-सृक्किणीस्थानमेके ॥ १७ ॥

कई एक आचार्यों के मत में वकार को सृक्किणी स्थान से बोलना चाहिये, जो दाँत और ओष्ठ के बीच में स्थान है उसे सृक्किणी कहते हैं ।

३५-उपपध्मानीया ओष्ठ्याः ॥ १८ ॥

उ, ऊ, उरे, प, फ, ब, भ, म, और * इस उपध्मानीय का ओष्ठ स्थान से उच्चारण करना शुद्ध है ।

३६-अनुस्वारयमा नासिक्या ॥ १९ ॥

ळ को छोड़ के * और * अनुस्वार को नासिका से बोलना शुद्ध है ।

३७-कण्ठ्यनासिक्यनुस्वारमेके ॥ २० ॥

कई आचार्य अनुस्वार का कण्ठ और नासिका स्थान कहते हैं ।

३८-यमाश्च नासिक्यजिह्वामूलीया एकेषाम् ॥ २१ ॥

कई एक आचार्यों के मत से यम वर्ण अर्थात् थ, द, ध, ये भी नासिका और जिह्वामूल स्थान वाले हैं ।

३९-एदैतौ कण्ठ्यताल०या ॥ २२ ॥

ए, ऐ कण्ठ और तालु से बोलने योग्य हैं ।

४०-ओदौतौ कण्ठ्योष्ठ्यौ ॥ २३ ॥

ओ, औ को कण्ठ और ओष्ठ से बोलना शुद्ध है ।

४१-डञ्जनमा स्वस्थाननासिकास्थाना ॥ २४ ॥

हकारादि पाँच वर्णों को स्व स्व स्थान और नासिका स्थान से धोलना चाहिये ।

४२-द्वे द्वे वर्णे सन्ध्यक्षराणामारम्भके भवत इति ॥२५॥

सन्ध्यक्षर अर्थात् जो 'ए, ऐ, ओ, औ' हैं इन में दो दो वर्ण मिले होते हैं । जैसे अ, आ से इ, ई मिल के ए; अ, आ से ए, ऐ मिल के ऐ, अ, आ से उ, ऊ मिल के ओ; अ, आ से ओ, औ मिल के ओ हो जाते हैं । जैसे एकार के आदि में अकार का कण्ठ और अन्त में इकार का तालु स्थान है इसी प्रकार औकार में प्रथम कण्ठ और दूसरा ओष्ठ स्थान है ।

४३-सरेफ ऋवर्णः ॥ २६ ॥

ऋवर्ण रेफ से युक्त है । अर्थात् इसके उच्चारण में रेफ भुति होती है ।

इति प्रथमं प्रकरणम् ॥

अथ द्वितीयं प्रकरणम्

अब स्थानों के कहने के पश्चात् दूसरे प्रकरण का आरम्भ करते हैं, इस में जैसी जैसी क्रिया से जिस जिस वर्ण का उच्चारण करना होता है उस उसका वर्णन है । परंतु यहां इतना अवश्य समझना है कि सब वर्णों के उच्चारण में जिह्वा मुख्य साधन है, क्योंकि उसके बिना किसी वर्ण का उच्चारण कभी नहीं हो सकता ।

४४-जिह्वथतालव्यमूर्धन्यदन्त्यानां जिह्वा करणम् ॥१॥

जिनका जिह्वामूल, तालु, मूर्धा और दन्त स्थान है उनके उच्चारण में जिह्वा मुख्य साधन है, क्योंकि जिस जिस वर्ण का जो जो स्थान

कहा है उस उस में जिह्वा लगाने ही से उनका ज्यों का त्यों उच्चारण होता है। यह सामान्य सूत्र है, इसका विशेष विधान आगे कहते हैं।

४५-जिह्वामूलेन जिह्वयाना तद्येषामभ्यासम् ॥ २ ॥

जिन वर्णों का जिह्वामूल अभ्यास अर्थात् उच्चारण स्थान है उन जिह्वामूलीय वर्णों का जिह्वामूल से स्पर्शकरके उच्चारण करना चाहिये।

४६-जिह्वोपाग्रेण मूर्धन्यानाम् ॥ ३ ॥

जिन वर्णों का मूर्धा स्थान कहा है उनका उच्चारण जिह्वा के कपड़ले अग्रभाग से मूर्धा को स्पर्श करके करना चाहिये।

४७-जिह्वाग्राधः करणं वा ॥ ४ ॥

इनके उच्चारण में दूसरा पक्ष यह भी है कि जिह्वा के अधोभाग से मूर्धा को स्पर्श करके उच्चारण करना योग्य है।

४८-जिह्वाग्रेण दन्त्यानाम् ॥ ५ ॥

जिन वर्णों का दन्त स्थान कहा है उनका उच्चारण जिह्वा के अग्रभाग से दाँतों को स्पर्श करके ही करना चाहिये।

४९-इत्येतदन्त करणम् ॥ ६ ॥

इस प्रकार से मुख के भीतर स्थानों में वर्णों की उच्चारण क्रिया जाननी चाहिये।

इति द्वितीयं प्रकरणम्।

* इस का अर्थ यह भी हो सकता है कि जिह्वामूलीय वर्णों का जिह्वामूल उच्चारण साधन उनके लिए है जिनको उस प्रकार बोलने का अभ्यास होवे। पु० श्री०

अथ तृतीयं प्रकरणम्

अब स्थान और करण के कहने पश्चात् तीसरे प्रकरण का आरम्भ किया जाता है। इसमें आभ्यन्तर प्रयत्नों का वर्णन किया है।

५०-प्रयत्नोऽपि द्विविधः ॥ १ ॥

प्रयत्न भी दो प्रकार के होते हैं।

५१-आभ्यन्तरो बाह्यश्च ॥ २ ॥

आभ्यन्तर और बाह्य।

५२-आभ्यन्तरस्तावत् ॥ ३ ॥

इन दोनों में से प्रथम आभ्यन्तर प्रयत्नों को कहते हैं।

५३-स्पृष्टकरणाः स्पर्शाः ॥ ४ ॥

ककार से लेके मकार पर्यन्त २५ पक्षीस वर्णों का स्पृष्ट प्रयत्न है अर्थात् जिह्वा से स्व स्व स्थानों में स्पर्श करके इन वर्णों का उच्चारण करना शुद्ध है।

५४-ईषत्स्पृष्टकरणाः अन्तस्थाः ॥ ५ ॥

थोड़े स्पर्श करके अन्तस्थ अर्थात् थ, र, ल, व, के उच्चारण करना चाहिये।

५५-ईषद्विवृतकरणा ऊष्माणः ॥ ६ ॥

ऊष्म वर्णों का ईषद्विवृत प्रयत्न है अर्थात् श, ष, स, ह का उच्चारण कण्ठ को थोड़ा फैलाकर करना चाहिए।

५६-विवृतकरणा वा ॥ ७ ॥

इसमें दूसरा पक्ष यह भी है कि ऊष्मवर्णों का विवृत प्रयत्न है इसलिए इनका उच्चारण कण्ठ खोलकर करना चाहिए।

५७-विवृतकरणाः स्वराः ॥ ८ ॥

स्वरों का विवृत प्रयत्न है इनका उच्चारण कण्ठ को फैलाकर करना चाहिए।

५८-संवृतस्त्वकारः ॥ ६ ॥

अकार का संवृत प्रयत्न है, क्योंकि इसका उच्चारण कण्ठ को संकोच करके होता है।

५९-इत्येपोऽन्तः प्रयत्नः ॥ १० ॥

यह आभ्यन्तर प्रयत्नों का प्रकरण पूरा हुआ।

इति तृतीय प्रकरणम् १

अथ चतुर्थ प्रकरणम्

६०-अथ वाङ्माः प्रयत्नाः ॥ १ ॥

अब इसके आगे चौथे प्रकरण में वर्णों के वाङ्मा प्रयत्नों का वर्णन करते हैं।

६१-वर्गाणां प्रथमद्वितीयाः शपसविसर्जनीयजिह्वामूली-
चोपध्मानीया यमौ च प्रथमद्वितीयौ विवृतकण्ठाः श्वासाऽनुप्र-
दानाश्चाऽघोषा ॥ २ ॥

यहाँ वर्ग शब्द से (क, चु, ङ, तु, पु) इन पाँचों का ग्रहण है इनके दो दो वर्ण अर्थात् कवर्ग में (क, ख), चवर्ग में (च, छ), टवर्ग में (ट, ठ) तवर्ग में (त, थ) पवर्ग में (प, फ) ऊर्ध्वों में (श, ष, स) और (.) विसर्जनीय (×) जिह्वामूलीय (×) उपध्मानीय (११ २) ये दो यम इन अठारह (१८) वर्णों का (विवृत कंठ) अर्थात् कंठ को फैला (श्वासानुप्रादन) उच्चारण के पश्चात् श्वास को युक्त कर और (अघोष) सूक्ष्म ध्वनि की योजनारूप क्रिया करके इनका उच्चारण करना चाहिये।

६२-एके अल्पप्राणा इतरे महाप्राणाः ॥ ३ ॥

पाचों वर्णों के प्रथम, तृतीय और पञ्चम अर्थात् (क, ग, ङ, च, ज, ञ, ट, ड, ण, त, द, न, प, ब, म, य, र, ल, व) यम प्रथम तृतीय अर्थात् (१५, ५) इतने सब अल्पप्राण अर्थात् ये थोड़े और (ख, घ, छ, झ, ठ, ड, थ, ध, फ, भ, श, ष, स, ह) (:) (x) (°) (१५, ल) और अकारादि स्वर ये सब महाप्राण अर्थात् अधिक बल से बोले जाते हैं।

६३-वर्गाणां तृतीयचतुर्था अन्तस्था हकारानुस्वारौ यमौ च तृतीयचतुर्थौ नासिक्याश्च संवृतकण्ठा नादानुप्रदाना घोषवन्तश्च ॥ ४ ॥

पांचों वर्णों के तीसरे और चौथे वर्ण अर्थात् (ग, घ, ज, झ, ङ, ञ, ट, ड, ध, भ) अन्तस्थ अर्थात् (य, र, ल, व) ह (°) अनुस्वार और तीसरे चौथे यम अर्थात् (° ल) तथा सानुनासिक अकारादि स्वर इनका संवृतकण्ठ प्रयत्न अर्थात् कंठ का संकोच (नादानुप्रदाना) इन के उच्चारण में अव्यक्त ध्वनि और (घोषवन्तः) इनका उच्चारण गम्भीर शब्द से करना चाहिये।

६४-यथा तृतीयास्तथा पञ्चमाः ॥ ५ ॥

वर्णों के तृतीय वर्णों के समान पञ्चम वर्ण अर्थात् (ङ, ञ, ण, न, म) के संवृतकण्ठ, नादानुप्रदान और घोषप्रयत्न समझने चाहिये।

६५-आनुनासिक्यमेषामधिको गुणः ॥ ६ ॥

पूर्वोक्त ङ, ञ, ण, न, म को मुख से बोले पश्चात् नासिका से बोलना ही इनका आनुनासिक गुण अधिक है।

६६-शादय ऊष्माणः ॥ ७ ॥

शादि अर्थात् (श, ष, स, ह) की ऊष्म संज्ञा है और ये महाप्राण प्रयत्न से बोले जाते हैं ।

६७-सस्थानेन द्वितीयाः ॥ = ॥

जो पांच वर्णों के दूसरे वर्ण अर्थात् (ख, छ, ठ, थ, फ) हैं वे सकार के समान महाप्राण प्रयत्न से बोलने चाहिये ।

६८-हकारेण चतुर्थाः ॥ ६ ॥

वर्णों के चतुर्थ अर्थात् घ, ङ, ढ, ध, म, इन पांच वर्णों का हकार के समान महाप्राण प्रयत्न होता है ।

इति चतुर्थं प्रकरणम् ।

अथ पञ्चमं प्रकरणम्

६९-तत्र स्पर्शयमवर्णकरो वायुरयःपिण्डवत् स्थानम-
मिपीडयति ॥ अन्तस्थवर्णकरो वायुर्दारुपिण्डवद्, ऊष्मस्वर-
वर्णकरो वायुरूर्णपिण्डवद् । उक्ता. स्थानकरणप्रयत्नाः ॥१॥

सब मनुष्यों को उचित है कि जो (स्पर्श) ककार से लेके म पर्यन्त पच्चीस (२५) वर्ण और चार यम हैं इन को प्रकट करने वाले वायु को लोहे के गोले के समान स्थान में लगा के अन्तस्थ वर्णों के बोलने में वायु को काष्ठ के गोले के समान स्थान में लगा के और शादि तथा भाईस (२२) स्वरों के उच्चारण में वायु को उनके गोले के समान स्थान में लगा के बोला करें । इस प्रकार जो स्थान करण और प्रयत्न कह चुके हैं उनका ज्ञान अवश्य करें ।

इति पञ्चमं प्रकरणम् ।

अथ पष्ठं प्रकरणम्

७०—अवर्णो ह्रस्वदीर्घप्लुतत्वाच्च त्रैस्वर्योपनयेन चानुना-
सिक्य भेदाच्च संख्यातोऽष्टादशात्मकः, एवमिवर्णादयः ॥१॥

अब अकारादि वर्णों के भेद दिखाते हैं—अकार के उदात्त, अनुदात्त और स्वरित भेद हैं। और जब इन एक एक के साथ ह्रस्व उदात्त, ह्रस्व अनुदात्त, ह्रस्व स्वरित और इसी प्रकार दीर्घ और प्लुत के साथ लगते हैं तब अकार के नव भेद हो जाते हैं। और जब ये सानुनासिक भेदयुक्त होते हैं तब इन नव नव के अठारह अठारह भेद होते हैं। इसी प्रकार इकार आदि स्वरों में प्रत्येक के अठारह भेद समझने चाहिये, परन्तु—

७१—लृवर्णस्य दीर्घा न सन्ति ॥ २ ॥

जिसलिए लृकार के दीर्घ भेद नहीं होते—

७२—तं द्वादशभेदमाचक्षते ॥ ३ ॥

इसलिए लृकार को बारह (१२) भेद से युक्त कहते हैं।

७३—यदृच्छाशब्दे अशक्तिजानुकरणे वा यदा दीर्घाः
स्युस्तदाऽष्टादश भेदं ब्रुवते कल्पक इति ॥ ४ ॥

जिन लोगों के मत में यदृच्छा शब्द होते हैं उनके मत में अथवा जब अशक्तिज अकार के स्थान में धोले गये लृकार का अनुकरण में प्रयोग करते हैं, तब लृकार को दीर्घ मान के उस के भी अठारह (१८) भेद होते हैं, जैसे 'कल्पक' के इस प्रयोग में होते हैं।

७४—सन्ध्यक्षराणां ह्रस्वा न सन्ति, तान्यपि द्वादश-
प्रभेदानि ॥ ५ ॥

जिसलिए सन्ध्यन्तर अर्थात् (ए, ऐ, ओ, औ) इनके ह्रस्व नहीं होते इसलिये इनके भी बारह भेद होत हैं ।

७५—अन्तस्था द्विप्रभेदा रेफवर्जिता. सानुनासिका निरनुनासिकाश्च ॥ ६ ॥

और 'र' को छोड़कर अन्तस्थ अर्थात् (य, ल, व) ये तीन सानुनासिक यँ, लँ, वँ और निरनुनासिक य, ल, व भेद से दो प्रकार के होते हैं ।

७६—रेफोष्मणा सवर्णा न सन्ति ॥ ७ ॥

जिसलिए 'र' और ऊष्म अर्थात् 'श, ष, स, ह' का कोई सवर्ण नहीं होता, इसलिये इनके परे किसी वर्ण के स्थान में इनका सवर्ण आदेश नहीं होता ।

७७—वर्ग्यो वर्ग्येण सवर्ण ॥ ८ ॥

परन्तु क, छ, ड, तु, पु इन पाच वर्ग और य, ल, व इन तीनों की परस्पर सवर्ण सझा मानी जाती है, जैसे ककार का सवर्ण खकार समझा जाता है, वैसे सर्वत्र समझना चाहिये ।

इति षष्ठ प्रकरणम् ।

अथ सप्तमं प्रकरणम् ॥

७८—इत्येष क्रमो वर्णानाम् ॥ १ ॥

यह पूर्व अकारादि वर्णों का क्रम कह के—

७९—तनैते कौशिकीयाः श्लोका ॥ २ ॥

षष्ठ प्रकरण के विषय में कौशिक ऋषि के श्लोक हैं उन में से आगे कुछ विशेष विषयक श्लोक लिखते हैं ।

८०--सर्वान्तेऽयोगवाहत्वाद्विसर्गादिरिद्धाऽष्टकः ।

अकार उच्चारणार्थो व्यञ्जनेष्वनुबध्यते ॥ ३ ॥

विना संयोग के प्राप्त होने से यहां सब वर्णमाला के अन्त में विसर्ग आदि अष्टक = विसर्जनीय, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय, अनुस्वार, चार यम गिना जाता है और अलग इसकी प्राप्ति होती है इससे विसर्गादि अष्टक अयोगवाह कहाता और वर्णमाला के वर्णों से अलग गिना जाता है । वर्णमाला के व्यञ्जनों में एक अकार अनुबन्ध किया है, वह उच्चारणमात्र के लिए है कि जिससे व्यञ्जन का स्पष्ट उच्चारण हो ।

८१--५कः५पयोः कपकारौ च तद्वर्गीयाश्रयत्वतः ।

पलिङ्गनी चखल्लतुर्जग्मिर्जघ्नुरित्यत्र यद्वपुः ।

नासिकयेनोक्तं कादीना तद्मेऽयमास्तेषामुकारः संस्थान-
वर्गीयलक्षकः ॥ ४ ॥

× जिह्वामूलीय और × उपध्मानीय के साथ में जो ककार और पकार हैं वे तद्वर्गीयाश्रयत्व से हैं अर्थात् उनका कवर्ग और पवर्ग के परे विधान है । इस से उन के साथ में ककार और पकार हैं । पलिङ्गनी आदि प्रयोगों में जो 'क् ख् ग् घ्' इत्याकारक अंश नासिकास्थानीय 'न् न् म् न्' वर्णों से अप्रकटित अर्थात् गृहीत नहीं होता है वह अयम अर्थात् यम नहीं और ककारादि वर्णों का जो उकार आता है वह संस्थानवर्गीय वर्ण अर्थात् उन वर्गों के सजातीय वर्णों का लक्षक है । जैसे कु, चु, डु, तु, पु इनमें प्रत्येक वर्ण के उकार के संयोग से वर्गमात्र का बोध होता है ।

इति सप्तमं प्रकरणम् ।

अथाष्टमं प्रकरणम्

८२-उक्ता. स्थानकरणप्रयत्नाः ॥ १ ॥

अब सब वर्णों के स्थान, करण और प्रयत्नों को कह चुके, अगले प्रकरण में स्थान आदि के लक्षण कहते हैं।

८३-यत्रस्था वर्णा उपलभ्यन्ते तत्स्थानम् ॥ २ ॥

स्थान उसको कहते हैं कि जहाँ से प्रसिद्ध होकर वर्ण सुनने में आते हैं।

८४-येन निर्वृत्यते तत्करणम् ॥ ३ ॥

स्थानों में जीभ और प्राण के जिस संयोग से वर्णों का उच्चारण करना होता है, उसको करण कहते हैं।

८५-प्रयतन प्रयत्नः ॥ ४ ॥

जो वर्णों के उच्चारण में पुरुषार्थ से यथावत् क्रिया करनी होती है, वह प्रयत्न कहा जाता है।

८६-नाभिप्रदेशात् प्रयत्नप्रेरितः प्राणो नाम वायुरुर्ध्व-
माक्रामन्नुर आदीना स्थानानामन्यतमस्मिन् स्थाने प्रयत्नेन
विचार्यते ॥ ५ ॥

जो ऊपर को श्वास निकलता है उसको प्राण कहते हैं जो आत्मा के उच्चारण की इच्छा से विचारपूर्वक नाभि प्रदेश से प्रेरणा विद्या प्राणवायु ऊपर जो उठता हुआ कण्ठ आदि स्थानों में से किसी स्थान में उत्तम यत्न के साथ विचार जाता है अर्थात् अकारादि वर्णों के पृथक् उच्चारण में वायु के संयोग से विचारपूर्व यथायोग्य क्रिया करनी चाहिये।

सब मनुष्यों को उचित है कि जिस जिस प्रकरण में जिस वर्ण के उच्चारण के लिए जो जो बात लिखी है, उसको ठीक ठीक जान कर विद्यार्थियों को जना के शब्दाक्षरों के प्रयोग व्योँ के व्योँ कर प्रशंसित हो सदा आनन्द से युक्त रह और सब विद्यार्थियों को भी वर्णोच्चारण शुद्ध कराकर आनन्द में रखो ।

इत्यष्टमं प्रकरणम् ।

अतुरामाङ्गचन्द्रेऽब्दे माघमासे सिते दले ।

चतुर्थी शनिवारेऽयं ग्रन्थः पूर्तिं समागतः ॥

इति श्रीमत्स्यामिदयानन्दसरस्वतीप्रणीतव्याख्यासहिता

पाणिनीयशिक्षा सूत्रसंग्रहान्विता वर्णोच्चारणशिक्षा

समाप्त ॥



चारों वेद सरल हिन्दी अनुवाद सहित

[भाष्यकार—श्री प० जयदेन शर्मा, विद्यालङ्कार, मीमांसातीर्थे]

संपूर्ण १४ खण्डों का मूल्य ११२) रु० नेट.

उत्तम छपाई, चम्बई-निर्णयसागरी-टाइप, सफेद चिकना कागज,
डबल क्राउन १६ पेजी के सुलभ आकार में

दृष्ट-निर्गो के लिये पवित्र उपहार, पुस्तकालयों और घर की अलमारियों
का सुन्दर भूषण, विवाहों और अन्य धार्मिक अवसरों पर देने के लिये
आदर्श मंड, छात्रों के लिये पवित्र पारितोषिक और नित्य धार्मिक
आनन्द तथा पुण्य-कर्मण्य पावन करने का अपूर्व साधन ।

प्रत्येक आयुगृह, आर्यपुस्तकालय, वैदिक स्वाध्यायश्रेणी आर्य
नर-नारी के पास ईश्वरीय ज्ञान वेद भगवान् की
एक-एक प्रति अवश्य होनी चाहिये

सामवेद	१ खण्ड	८) रु०	अथर्ववेद	४ खण्ड	३२) रु०
यजुर्वेद	२ खण्ड	१६) रु०	ऋग्वेद	७ खण्ड	५६) रु०

प्रत्येक जिल्द लगभग ७०० पृष्ठों की, पूरे कपड़े की बँधी हुई, सुनहरे अक्षरों सहित

मैनेजर,

आर्य साहित्य मण्डल लिमिटेड, अजमेर.

आर्यसमाज के नियम

- १—सब सत्य विद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं उन सब का आदि मूल परमेश्वर है ।
- २—ईश्वर सच्चिदानन्दस्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम; सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्त्ता है, उसी की उपासना करनी योग्य है ।
- ३—वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है । वेद का पढ़ना पढ़ाना और सुनना सुनाना सब आर्यों का परमधर्म है ।
- ४—सत्य के ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिये ।
- ५—सब काम धर्मानुसार, अर्थात् सत्य और असत्य को विचार करके करने चाहिये ।
- ६—संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है, अर्थात् शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना ।
- ७—सब से प्रीतिपूर्वक धर्मानुसार यथायोग्य वर्त्तना चाहिये ।
- ८—अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि करनी चाहिये ।
- ९—प्रत्येक को अपनी ही उन्नति से संतुष्ट न रहना चाहिये, किन्तु सब की उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिये ।
- १०—सब मनुष्यों को सामाजिक, सर्वहितकारी नियम पालने में परतन्त्र रहना चाहिये और प्रत्येक हितकारी नियम में सब स्वतन्त्र रहें ।

महर्षिकृत ग्रंथों के सस्ते व सुलभ संस्करण

सत्यार्थप्रकाश (अजिल्द)	२.२५	गोरदणानिधि	० १०
सत्यार्थप्रकाश (सजिल्द)	२ ७५	सस्कारविधि वदिया	१ १२
श्रुत्वेदादिमाध्यभूमिका		हवनमन्त्रा	० ०५
अजि० २ ५०, सजि० ३.००		नित्यधर्मविधि	० ०५
व्यवहारभानु	०.२०	आर्योद्देश्यरत्नमाला	०.०५
पंचमहायज्ञ विधि	० ००	संस्कृतवाक्यप्रबोध	० ५०

अन्य उपयोगी पुस्तकें

बाल सत्यार्थ प्रकाश	१ ००	दयानन्द वाणी	१ ५०
वैदिक मनोविज्ञान	० ३७	दयानन्द वचनानुसृत	० ३७
वैदिक अध्यात्मसुधा	०.६२	भयानक पञ्चत्र	० २५
रामायणदर्पण	१ २५	रत्नरे का घण्टा	० ५०
महाभारत शिक्षा सुधा	१ ५०	रत्नरे का बिगुल	०.६२
कतव्य-दर्पण	१ ००	हमारे आदर्श	१ ०५
सत्संग यज्ञ-विधि	० ३७	युवनीति और अहिंसा	१ २५
सामान्य ज्ञान ४ भागों में,		स्वस्थ जीवन	१ २५
० २५, ० ३७, ० ४४, ० ५०		जीवन की नींव	२ ००
साहित्य-प्रवेश ४ भागों में,		गरुड पुराण की आलोचना	० ५०
० ४४, ० ४४, १ ००, १ ००		आर्यपर्वपद्धति	१ ५०
इतिहास की कहानियाँ	० ५६	सत्यधर्म विचार	० ०५
खूनी इतिहास	० ७५	वेदविद्वन्-मत-सङ्ग	० ३५
छात्र चरित्र	३ २५	हैदराबाद सत्याग्रह का स्फुरजित इतिहास	० ५०
हैदराबाद सत्याग्रह का स्फुरजित इतिहास		कर्म भीमासा—ले० आचार्य वैशनाथ शास्त्री	२ २५
कर्म भीमासा—ले० आचार्य वैशनाथ शास्त्री		सन्मार्ग दर्शन—ले० स्वामी सर्वदानन्दजी	सजिल्द ४ ००
सन्मार्ग दर्शन—ले० स्वामी सर्वदानन्दजी			

पुस्तकें मिलने का पता—

आर्य साहित्य मण्डल लिमिटेड, अजमेर ।



वेदांगप्रकाशे द्वितीयो भागः

सन्धिविषयः

(संशोधितष्टिप्पण्येभि रसंस्कृतश्च)

व्याख्याता—

श्रीमत्स्वामि-दयानन्दसरस्वती

॥ ओ३म् ॥

अथ वेदाङ्गप्रकाशः

★ तत्रत्यो द्वितीयो भागः ★

सन्धिविषयः

पाणिनीयाष्टाध्याय्यां प्रथमो भागः
श्रीमत्स्थामिदयानन्दसरस्वतीकृतव्याख्यासहितः

भाष्यविद्वत्सुविष्टि-मीमांसकेन संशोध्य

टिप्पणीभिरलंकृतः

पठनपाठनव्यवस्थायां चतुर्थं पुस्तकम्

प्रकाशक

आर्य साहित्य-मण्डल लिमिटेड, अजमेर

प्रथमावृत्ति

१०००

संवत्

दयानन्दान्व

१९३३

साहित्य

प्रकाशित

दृश्य

११११ भाग

प्रकाशक—
आर्य साहित्य मण्डल लि०,
अजमेर.

मुद्रक—
दि फाइन आर्ट प्रिंटिंग
अजमेर

विषयसूची

१—प्रकाशनीय वस्तु	१
२—भूमिका	१
३—उपोद्घात	१
४—संज्ञा-प्रकरण	१
५—परिभाषा-प्रकरण	२५
६—साधन-प्रकरण	६४
१. स्वरसन्धि	६४
२. हलस्वरसन्धि	८४
३. हलान्ध	८६
४. अयोगवाहसन्धि	१००
७ व्याख्यातसूत्र-वार्तिक सूची	१२८
८ संशोधनपत्र	१३५

वेदाङ्गप्रकाश के भागों की क्रमसंख्या

ऋषि दयानन्द ने पढ़ने पढ़ाने के लिये क्रमशः १६ पुस्तकें प्रकाशित कीं। उनमें दो संस्कृतवाक्य-प्रबोध और व्यवहारमानु तथा १४ भाग वेदाङ्गप्रकाश के हैं। वेदाङ्गप्रकाश में १२ भाग व्याकरण विषयक हैं और वर्णोच्चारणशिक्षा तथा निघण्टु स्वतन्त्र वेदाङ्ग हैं अतः वेदाङ्गप्रकाश के प्रत्येक भाग के मुख पृष्ठ पर प्रायः तीन प्रकार की संख्या छपती है। प्रथम वेदाङ्ग प्रकाश के भागों की, दूसरी पाणिनीय भट्टाचार्यायी अर्थात् व्याकरण के भागों की, तीसरी पठनपाठमन्यवस्था क्रम की। वे० प्र० के छपे वेदाङ्गप्रकाशों पर ये संख्याएँ बहुत अव्यवस्थित हैं। हम यहाँ प्रत्येक भाग की छद्म क्रम संख्या नीचे लिखते हैं—

वे० प्र०	संख्या	भट्टा० संख्या	वे० पा०, व्य० संख्या
वर्णोच्चारण शिक्षा	१	०	१
सन्धिविषय	२	१	४
नामिक	३	२	५
कारकीय	४	३	६
सामासिक	५	४	७
द्वैगतादित	६	५	८
अव्ययार्थ	७	६	९
भाष्यव्याप्तिक	८	७	१०
सौचर	९	८	११
पारिभाषिक	१०	९	१२
धातुपाठ	११	१०	१३
गणपाठ	१२	११	१४
उणादिकोश	१३	१२	१५
निघण्टु	१४	०	१६

प्रकाशकीय वक्तव्य



ऋषि दयानन्द विक्रम की २० वीं शताब्दी के प्रथम व्यक्ति थे जिन्होंने आर्य भाषा (हिन्दी), और संस्कृत भाषा को देश की राष्ट्र भाषा बनाने के लिये महान् प्रयत्न किया । यह उनके द्वारा लिखे गये अनेकों पत्रों से व्यक्त है । देखो ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन (रामलाल कपूर ट्रस्ट लाहौर संस्करण) पृष्ठ २५, १२२, १४७, १५२, २९४, २९५, २९७, २९८, ३२४, ३६६, ३६८, ३६९, ३८६, ४१६, ४२९, ४९८ ।

उन के उस महान् प्रयत्न का परिणाम यह हुआ कि देश में संस्कृत भाषा पढ़ने की एक लहर उत्पन्न होगई । जो व्यक्ति पूरा समय लगाकर किसी शिक्षक से संस्कृत भाषा पढ़ने में असमर्थ थे, उनकी ओर से एक ऐसे ग्रन्थ की मांग होन लगी जिस के द्वारा वे घर बैठे बिना किसी शिक्षक के संस्कृत भाषा पढ़ सकें । ऋषि दयानन्द उस समय वेदभाष्य के महत्त्वपूर्ण कार्य में विशेष रूप से लगे हुए थे । अतः उन्होंने उस मांग की पूर्ति के लिये उक्त ग्रन्थ का कार्यभार अपने परिचितों के ऊपर छोड़ दिया । इस प्रकार ऋषि दयानन्द की प्रेरणा और निर्देश के अनुसार परिचितों ने चौदह भागों में वेदाङ्ग-प्रकाश की रचना की । देखो ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन (रा० ला० क० सं०) पृष्ठ ३३८, ३७४, ३७६ ; तथा श्री० महात्मा मुंशीराम (स्वामी ब्रह्मानन्द) जी द्वारा प्रकाशित, पृष्ठ ४०, ४१, ४०४, ४०५, ४१७, ४१८ ।

प० भीमसेनजी के आश्रित शु० ६ सं० १९३८ के पत्र से ज्ञात

होता है कि सन्धि-विषय की रचना पं० भीमसेनजी ने की थी । वे लिखते हैं—

“..... यह हाल मेरे बनाए सन्धि-विषय, नामिक और कारकीय में कहीं आपने देखा ? ।

श्री० म० मुंशीरामजी सं० पत्रव्यवहार पृष्ठ ४० ।

ऋषि दयानन्द को वेदभाष्य आदि की रचना और प्रचार कार्य से इतना अवकाश नहीं मिलता था कि वे वेदाङ्गप्रकाश के सब भागों को पूर्णतया देख सकते । अतः इन ग्रन्थों में व्याकरण की अनेक भूलें रह गईं । सधिविषय के प्रथम संस्करण के अशुद्ध मुद्रण के विषय में ऋषि दयानन्द का लेख इस प्रकार है—

सन्धिविषय की तरह अशुद्ध न होने पावे । अब हमने शुद्धिपत्रका प्रकाश देखा तो विदित हुआ कि जो कम विद्यावाला भी ध्यान देकर शोधे तो भी ऐसी अशुद्धि कभी न रह सके ।

पत्रव्यवहार (सं० ५० सं०) पृष्ठ २७० ।

इसी प्रकार नामिक आदि अन्य भागों के विषय में भी ऋषि के पत्रव्यवहार में यत्र तत्र लिखा है ।

वेदाङ्गप्रकाश के जिन भागों (वर्णोच्चारणशिक्षा, सन्धिविषय, नामिक) का द्वितीय संस्करण पं० भीमसेनजी और पं० ज्ञानदासजी के कार्यकाल में प्रकाशित हुआ उन में पयोत्र संशोधन कर दिया गया । अतः उन में अपेक्षा कृत अन्य भागों के अशुद्धियाँ न्यून हैं ।

सन्धिविषय के द्वितीय संस्करण (सं० १९४५ आपाठ) के अन्तिम पृष्ठ पर निम्न सूचना दी गई है—

विज्ञापन

यह पुस्तक (सन्धिविषय) जिस समय प्रथम छपा था

उस समय सक्षेपता के विचार से कुछ सूत्र न्यून रक्ते थे, और शीघ्रता के कारण कहीं कहीं अशुद्धिया भी रह गई थीं। अब द्वितीयावृत्ति में अनेक महाशयों की सम्मति से सन्धि सवन्धि विषय शुद्ध कर पूरा छुपवाया है। अत एव प्रथम छपी हुई पुस्तक से अब की बार सूत्र अधिक छपे हैं।

ह० भीमसेनशर्मण

हमारी विरकाल से इच्छा थी कि इन वेदाङ्ग प्रकाशों का शुद्ध और सुन्दर मुद्रण हो, जिससे इन ग्रन्थों के द्वारा व्याकरण पढ़ने वालों को भ्रान्ति न हो। गत नवम्बर मास में ५० युधिष्ठिरजी मीमांसक ने बताया कि गवर्नमेण्ट संस्कृत कालेज बनारस की प्राचीन व्याकरण और वेद नैरुक्तप्रक्रिया क पाठ्यक्रम में वेदाङ्ग प्रकाश क सन्धि विषय, नामिक, आख्यातिक और उणादि-कोश इन चार भागों का समावेश हो गया है। इस कारण इन का शुद्ध मुद्रण अत्यन्त आवश्यक हो गया है। हमने इन ग्रन्थों के सशोधन का भार ५० युधिष्ठिरजी मीमांसक पर डाला और उन्होंने इस कार्य का करना सह्य स्वीकार किया।

इस संस्करण की विशेषता

मण्डल द्वारा प्रकाशित इस संस्करण में निम्न विशेषताएँ हैं—

१—व्याकरण सबन्धी समस्त भूलें ऋषि दयानन्द कृत अष्टाध्यायाभाष्य और महर्षि पतञ्जलि विरचित महाभाष्य के अनुसार ठीक कर दी हैं।

२—जिस विषय में वैयाकरणों में मतभेद है, उसे वैसे ही रहने दिया है और उसका स्पष्टाकरण नीचे टिप्पणी में कर दिया है।

३—जहाँ कहीं पाठ टूटा हुआ प्रतीत हुआ उसे [] को
मे पूरा कर दिया है।

४—विद्यार्थियों का सुगमता के लिये कठे विषय नीचे टिप्पणी
में स्पष्ट कर दिये हैं।

५—ग्रन्थ के मध्य और नीचे टिप्पणी में उद्धृत अध्यायी के
सूत्र वेदाङ्ग प्रकाश में जहाँ जहाँ व्याख्यात हैं उनके पते दे दिये हैं
जिससे छात्रों को उन सूत्रों का विषय समझने में सरलता हो।

६—यह संस्करण सन्धिविषय के द्वितीय संस्करण के अनुसार
है। पृष्ठ ६८, ७१, ७३ पर [] कोष्ठ में जहाँ पाठ आवश्यक
होने से प्रथम संस्करण से लिया है, और पृष्ठ ११ पर एक
वार्तिक बढ़ाया है, जिस का कारण नीचे टिप्पणी में व्यक्त कर
दिया है।

७—ग्रन्थ में व्याख्यात सूत्र और वार्तिकों की सूची वर्णानुक्रम
से अन्त में लगा दी है, जिससे इनको छूटने में सुगमता हो।

८—इस संस्करण में अध्यायी के सूत्रों और महाभाष्य के
पने प्रायः प्रथम और द्वितीय संस्करण के अनुसार दिये हैं। इस
विषय में पृष्ठ १ की टिप्पणी दर्शनीय है।

आशा है इस प्रयत्न से पढ़ने वाले विद्यार्थियों को पर्याप्त सहा
यता मिलेगी।

प्रकाशक

९—इस में दिये हुए पने मण्डल द्वारा प्रकाशित वेदाङ्ग प्रका
श के अनुसार हैं। वैदिक पञ्चालय के ग्रन्थों में आग पीछे हैं।

भूमिका

यह सन्धिविषय व्याकरण का प्रथम भाग है और पठन पाठन व्यवस्था में चौथा पुस्तक है^१। मैंने यह पुस्तक इसलिये बनाया है कि जिससे व्याकरण में जितना सन्धि का विषय है उसको पढ़नेहारे सुख से समझ लेवें। व्याकरण का यही प्रथम विषय है कि जिसमें अच् के स्थान में हल्, हल् के स्थान में अच् और हल् के स्थान में हल् और अच् के स्थान में अच् भी हो जाते हैं। बिना सन्धिज्ञान यह बात समझ में कभी नहीं आ सकती, इसके बिना जो-जो शब्द का प्रथम और पश्चात् स्वरूप होता है वह-वह समझ में कभी नहीं आ सकता, इसके बिना पदार्थज्ञान और धाक्यार्थज्ञान क्योंकर हो सकता है? जब तक यह सत्य नहीं हो तब तक मनुष्य का अभीष्ट प्रयोजन भी प्राप्त नहीं हो सकता। इस ग्रन्थ में लोक और वेद का विषय सम्पूर्ण रक्खा है, परन्तु पूर्वापर के स्थान में जो आदेश जिस-जिस नियम से होते हैं वह-वह इसी ग्रन्थ से समझ लेना चाहिये। और जो-जो परिभाषा महाभाष्यस्थ हैं उन सब की व्याख्या उदाहरण, प्रत्युदाहरणसहित पारिभाषिक ग्रन्थ में लिखी हैं, क्योंकि जो सन्धिविषयादि व्याकरणविषय के ग्रन्थ क्रम से लक्ष्य पर सब सूत्र घटा कर बनाये हैं जिससे पढ़ने पढ़ानेहारों को कुछ भी क्लेश न हो, इसलिये जो कोई इन ग्रन्थों को पढ़े वा पढ़ावे वे सब निम्नलिखित रीति से पठ

१ यह वाक्य ग्रन्थ के प्रारम्भ में था, वहा अनुपयुक्त होने से हमने आख्यतिक और सौगतादित के अनुसार यहा रक्ता है।

नपाठन करे और कराये। जहाँ-जहाँ एक उदाहरण वा प्रत्युदाहरण लिखा है उसके सदृश दूसरे भी उदाहरण प्रत्युदाहरण ऊपर से पढ़ते पढ़ाते जायें कि जिससे शीघ्र ही पूर्ण बोध हो जाय। इसमें तीन प्रकरण हैं—एक संज्ञा, दूसरा परिभाषा, तीसरा कार्य। इनमें से संज्ञा उसको कहते हैं कि जिससे थोड़े परिश्रम करके महा-लाभ होवे। परिभाषा उसको कहते हैं कि जो संज्ञादि सूत्रों के विषयों की सहायक होकर उसके विषय को निर्दोष करके परिपूर्ण कर देवे। कार्य उसको कहते हैं कि जिससे यथायोग्य शब्दों का साधुत्व किया जाता है। इन तीनों विषयों को जो कोई ठीक ठीक समझ लेगा उसको अमर्य नामिक आदि ग्रन्थों को शीघ्र उपस्थित करके वेद और लौकिक ग्रन्थों का भी बोध अनायास से होगा।

इस ग्रन्थ में जो सूत्रों के आगे' अङ्क हैं वे तो इसी ग्रन्थस्थ सूत्रों की संख्या जनाने के लिये हैं, और अ० इस संकेत के आगे जो तीन अङ्क लिखे हैं उनमें प्रथम अङ्क से अध्याय, दूसरे से पाठ तीसरे से सूत्र की संख्या समझी जाती है।

स्वामिदयानन्दसरस्वती.

१. वेदाङ्गप्रकाश के कई भागों में क्रमाङ्क सूत्र पाठ के अनन्तर दिये हैं और कइयों में पूर्ण। हमने सब भागों में समान शैली करने और सुगमता के लिये क्रमाङ्कों को सूत्र से पूर्व रक्खा है।

ओ३म्

सन्धिदानन्दात्मने नमः

अथ सन्धिविषयः

सन्धि उसमो कहते हैं कि जिसमें पूर्वापर वर्णों को मिलाकर पद और वाक्यों का उच्चारण करना होता है। इस ग्रन्थ में इसी विषय की व्याख्या होने से इसका नाम सन्धिविषय रक्खा है।

(प्र०) शब्द नित्य हैं वा अनित्य ? (उ०) नित्य हैं।

(प्र०) जब नित्य हैं तो शब्दों में लोप, आगम और वर्णविकार क्यों होते हैं ?

(उ०) सिद्धन्तु नित्यशब्दत्वात् । सिद्धमेतत् । कथम् ? नित्यशब्दत्वात् । नित्याः शब्दाः । नित्येषु सतामादैर्चां संज्ञा क्रियते न संज्ञया आदैर्चा भान्यन्ते । महा० अ० १, पाद १, सू० १६, * आ० ६ ।

* इस ग्रन्थ में अष्टाध्यायी के सूत्रों और महामाध्य के उद्धरणों के जो पते लिखे गये हैं उनमें कहीं कहीं सूत्र सत्या में भिन्नता है। अतः वर्तमान में मुद्रित मूल अष्टाध्यायी और महामाध्य में उस सत्या पर न मिलें तो दो चार सूत्र आगे पीछे देख लेना चाहिए। क्योंकि इस ग्रन्थ में जो सूत्र सत्या दी गई है वह सूत्रपाठ के योग विभागों और उसमें प्रविष्ट धातियों को निकाल कर गिनी गई है। प्रथमाध्याय के प्रथम पाद की सूत्र सत्याओं में १३, १५ सत्या का अन्तर है क्योंकि ग्रन्थकार ने

ये दोष नहीं आ सकत क्योंकि शब्द नित्य है। नित्य शब्दों वर्तमान आदैच् की वृद्धि सज्ञा होती है, सज्ञा से आदैच् बनाये नहीं जाते।

अथ युक्तं यन्नित्येषु शब्देष्वादेशाः स्युः।
बाह युक्तम्। शब्दान्तरैरिह भवितव्यम्। तत्र
शब्दान्तराच्छब्दान्तरस्य प्रतिपत्तिर्युक्ता। आदेशा-
स्तर्हिमे भविष्यन्ति अनागमकानां सागमकाः।
तत्कथम्?

सर्वे सर्वपदादेशा दाक्षीपुत्रस्य पाणिनेः।

एकदेशविकारे हि नित्यत्वं नोपपद्यते ॥

महा० अ० १, पा० १, सू० ३४, आ० ५

(प्र०) क्या नित्य शब्दों में आदेशादि का होना युक्त है ?

(उ०) हा, क्योंकि शब्दान्तरों के स्थानों में शब्दान्तरों के प्रयोग मात्र करने को आदेशादि होते हैं। जैसे—‘आदि+सु—अन्त+सु—औ’ इत्यादि के स्थानों में “आद्यन्तौ” इत्यादि और ‘पुरुष+आम् सु—औ’ इत्यादि के स्थानों में “पुरुषाणाम्” ऐसे जुड़ागम इत्यादि आगमरहित पदों के स्थानों में “पुरुषाणाम्” ऐसे जुड़ागम सहित के प्रयोग किये जाते हैं। इसी प्रकार दाक्षी के पुत्र पाणिनि आचार्य के मत में सब शब्दसङ्घातों के प्रयोगविषय में शब्दान्तरों के सङ्घातों का उच्चारण किया जाता है, क्योंकि एकदेशविकार अर्थात् इकार के स्थान में यकार के और यकार के स्थान में इकार आदि कार्य होने से शब्दों का नित्यत्व सिद्ध नहीं हो सकता। जैसे आचार्य के स्थान में शिष्य का उपयोग, पिता के स्थानापन्न पुत्र

‘अथ शब्दानुशासनम्’ और प्रत्याहारसूत्रों को पाणिनीय माना है अर्थात् ‘अथ शब्दा०’ से अष्टाध्यायी का प्रारम्भ स्वीकार किया है।

देवदत्त के अधिकार में यज्ञदत्त आदि का ग्रहण होता है, तथा घोड़े के स्थान में बैल और बैल के स्थान घोड़ा जोड़ा जाता है। वहाँ किसी का नाश हो जाता है ?

कार्यविपरिणामाद्वा सिद्धम् । अथवा कार्य-
विपरिणामात् सिद्धमेतत् । किमिदं कार्यविपरि-
णामादिति ? कार्या बुद्धिः सा विपरिणम्यते ॥

महा० अ० १, पा० १, सू० ७२, भा० ४ ।

। इन शब्दों के प्रयोग होने से भी वे अनित्य नहीं हो सकते, क्योंकि बुद्धि और वाणी की क्रिया ही का विपरिणाम अर्थात् अवस्थान्तर होता है, शब्दों का नहीं, क्योंकि जो शब्द अनित्य हों तो उनकी पुनः पुनः प्रसिद्धि नहीं हो सकती। जैसे कोई मनुष्य 'गौः' इसको बोल के मौन अथवा अन्य शब्दों का उच्चारण करके कालान्तर में पुनः गो शब्द का उच्चारण करता है, जो गो शब्द अनित्य होता तो पुनः कहां से आता और क्या उच्चारण के पश्चात् बुद्धि में गो शब्द नहीं रहता ? तथा क्या सर्वज्ञ ईश्वर के ज्ञान में किसी शब्द अर्थ और सम्बन्ध का कभी अभाव भी होता है ? इसलिये वहाँ ऐसा समझना चाहिये कि गो शब्द के उच्चारण में जब तक वाणी की क्रिया गकारस्थ होती तब तक औकार में नहीं, जब तक औकार में रहती तब तक विसर्जनीय में नहीं, जब तक विसर्जनीय में होती तब तक अवसान में नहीं रहती है। इसी प्रकार सर्वत्र वाणी की क्रिया ही का विपरिणाम जानना चाहिये, शब्दों में अवस्थान्तर नहीं।

नित्याश्च शब्दाः । नित्येषु शब्देषु कृटस्थैरवि-
शालिभिर्वर्णैर्भवितव्यमनपायोपजनाविकारिभिः ।

महा० अ० १, पा० १, सू० २, भा० २ ।

इसलिय शब्द नित्य हैं, क्योंकि जो-जो शब्दों में वर्ण हैं वे कूटस्थ अर्थात् निश्चल हैं। जो उच्चारण क्रिया से ताड़ित वायु की चालन होने से आकाशवत् सन्नत स्थित शब्द सुन जाते हैं सा पवत क समान कूटस्थ हैं, न इनका अपाय अर्थात् लोप, न आगम, न विकार और कभी वे चलते [हैं] और आकाश का गुण होने से उस समान शब्द भी नित्य हैं। इसलिये जो जो शब्दों के विषय में लोप आगम, वर्णविकार आदि की साधन प्रक्रिया शास्त्रों में लिखी हैं सा सो शब्द अर्थ और सम्बन्ध के जानने के लिए हैं। देखो यह ध्यान है—

कथं पुनरिदं भगवतः पाणिनेराचार्यस्य लक्षणं प्रवृत्तम् ? सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे ।

महामाध्वे अ० १, पा० १, भा० १

व्याकरणादि शास्त्रों का प्रवृत्ति नित्य शब्द, नित्य अर्थ और नित्य सम्बन्धों के जानने का क लिय है। इसलिये सब मनुष्यों के उचित है कि इस सन्धि विषय का ज्ञान अवश्य करें और करावें क्योंकि जब अनेक पद अथवा अक्षर मिल कर हाने से उनका स्वरूप पहिचानने में नहीं आता, तब उन क ज्ञान क बिना पद और पदा का ज्ञान भी नहीं हो सकता, बिना इसका प्रीति और व्यवहार सिद्धि के न हाने से सुखलाभ कैसे हो सकता है ?

(प्र०) व्याकरणादि शास्त्र पढ़ने के कितने प्रयोजन हैं ?

(उ०) रक्षा, ऊह, आगम, लघु, असन्दह, तऽसुरा, दु शब्द, यदधीनम्, यस्तु प्रयुक्ते, अविद्यास, विभक्ति कुर्वन्ति, वा इमाम्, चत्वारि, उत त्व, सक्तुमिव, सारस्वतोम्, दशम्या पु स्य, सुदवो अस्ति वरुण इति । य अठारह (१८) प्रयोजन हैं इनके अर्थ—रक्षा—मनुष्य लोगों को वेदों की रक्षा के वि व्याकरणादि शास्त्र अवश्य पढ़ने चाहिये, क्योंकि इनक पढ़ने ह

शेष, आगम और वर्णविकार आदि का यथावत् बोध होकर वेदों को रक्षा कर सकते हैं। ऊहः—वेदों में सब लिङ्ग और सप्त विभक्ति रहित शब्दों के प्रयोग नहीं किये हैं, उनका बोध व्याकरणादि शास्त्र विज्ञानपूर्वक तर्क के बिना यथावत् कभी नहीं हो सकता। ताम्रमः—सब मनुष्यों को अवश्य उचित है 'कि साङ्गोपाङ्ग वेदों को ढ़कर यथोक्त क्रिया करके सुखलाभ को प्राप्त हों' सो व्याकरणादि पढ़े बिना कभी नहीं हो सकता, क्योंकि सब विद्याओं को प्राप्त करने में व्याकरण ही प्रधान है प्रधान में किया हुआ पुहपार्थ सर्वत्र इहालाभकारी होता है। लघु—मनुष्यों को अवश्य उचित है कि इहादि शास्त्रों के सब शब्द, अर्थ और सम्बन्धों का जानें। सो व्याकरणादि के पढ़े बिना थोड़े परिश्रम से पूर्वोक्त पदार्थों का सहज से यथावत् जानना नहीं हो सकता। असन्देह—मनुष्य व्याकरणादि को पढ़ के ही शब्दार्थ सम्बन्धों को निस्सन्देह जान सकता है। तेऽसुराः—जो मनुष्य व्याकरणादि शास्त्रों की शिक्षा से रहित होते हैं वे हल्लागुला करके अप्रतिष्ठित होकर नीचता को प्राप्त हो जाते [हैं], और जो व्याकरणादि की सुशिक्षा से युक्त होते हैं वे श्रेष्ठता में सम्पन्न होते हैं। दुष्टः शब्दः—स्वर और वर्ण के विपरीत करने से शब्द दुष्ट और वक्त्र के समान होकर वक्ता के अभिप्राय को विपरीत कर देता है, और जो व्याकरणादि को पढ़ के यथावत् स्वर और वर्णोच्चारण करते हैं वे ही परिष्ठित कहाते हैं। यदधीतम्—जो मनुष्य अर्थज्ञान के बिना पाठमात्र ही पढ़ते जाते हैं उनके हृदय में विद्यारूप सूर्य का प्रकाश कभी नहीं होता, और जो व्याकरणादि शास्त्रों को अर्थसहित पढ़ते हैं वे ही सूर्य के प्रकाश के समान विद्यारूप प्रकाश को प्राप्त होकर अन्य मनुष्यों को इनकी प्राप्ति कराके पर्वदा आनन्दित रहते हैं। यस्तु प्रयुङ्क्ते—जो मनुष्य विशेष व्यवहारों में शब्दों के प्रयोग ज्यों के त्यों करते हैं वे ही अनन्त

विजय को प्राप्त होते [हैं], और जो ऐसा नहीं करते वे सर्वत्र पराजित होकर सर्वदा दुःखित रहते । अविद्वांसः—जो विद्याहीन मनुष्य होते हैं वे समा तथा बड़े छोटे मनुष्य के सङ्ग में भाषणादि व्यवहारों को यथावत् नहीं कर सकते, उनको विद्वानों की सभा में स्त्री के समान लज्जित होना पड़ता [है], और जो विद्वान् होते हैं वे पूर्वोक्त व्यवहारों को यथावत् करके सर्वत्र प्रशंसा को प्राप्त होते हैं । विभाक्तं कुर्वन्ति—जो विद्वान् होते हैं वे ही यज्ञकर्म अथवा सभा के बीच में यथायोग्य विभक्तिसहित शब्दों के प्रयोग कर सकते [हैं], और जो व्याकरणादि शास्त्र को पढ़े नहीं होते वे इसमें समर्थ नहीं हो सकते । यो या इमाम्—जो मनुष्य पद, स्वर और अक्षरों को शुद्धतापूर्वक उच्चारण करके अपनी वाणी को पवित्र करता है वही यज्ञ और सभा आदि व्यवहारों में मान्य को प्राप्त होता है । चत्वारि—जिसके आत्मा में शब्दविद्या प्राप्त होती है वही महाविद्वान् होकर अपने और अन्य सब मनुष्यों के कल्याण करने में समर्थ होता है । उत त्वः—जो मनुष्य व्याकरणादि विद्या को नहीं पढ़ता वह विद्यायुक्त वाणी के दर्शन से रहित होकर देखता और सुनता हुआ भी अन्ये और बहिरं के समान होता [है], और जो इस विद्या के स्वरूप को प्राप्त होता है, उसी को विद्या परमेश्वर से लेकर पृथिवीपर्यन्त पदार्थों का स्वरूप यथावत् जना देती है । सक्नुमिव—जैसे चलनी से सक्तु को छान कर मैदा और भूसी अलग-अलग कर देते हैं वैसे जो मनुष्य विद्यायुक्त होते हैं वे सत्याऽसत्य का विवेक करके सत्य का ग्रहण और असत्य का त्याग ठीक-ठीक कर सकते हैं । सारस्वतीम्—जब मनुष्य अविद्वान् होते हैं तब भ्रान्तियुक्त होकर सभा और यज्ञशालादि के व्यवहारों में अनृतभाषण कर दूषित हो जाते [हैं] और जो व्याकरणादि को पढ़कर वेदोक्त व्यवहारों को यथावत् करते हैं वे ही सुभू-

पित होकर सर्वत्र प्रतिष्ठा को प्राप्त होते हैं । दशम्यां पुत्रस्य— मनुष्यों को आवश्यक है कि अपने सन्तानों का नाम जन्म से दशवें दिन शास्त्रोक्तरीति से रखें । परन्तु शास्त्रों के पढ़े बिना नाम में दो वा चार अक्षर और वे वर्ण किस प्रकार के हों इत्यादि नहीं जान सकते, और जो विद्वान् होते हैं वे तो शास्त्रोक्त प्रमाणों को जानकर उक्त व्यवहार को यथावत् कर सकते हैं । सुदेवो अस्ति घरुण इति—जैसे विद्वान् लोग सय विद्याओं को पढ़कर सत्य देव कहाते हैं वैसे हम भी हों, इत्यादि प्रयोजनों के लिये शास्त्रों को पढ़ना सब मनुष्यों को अवश्य चाहिये । यह १८ (अठारह) प्रयोजन यहां सङ्क्षेप से लिखे हैं, किन्तु इनके प्रमाण और विस्तारपूर्वक अध्याध्यायी की भूमिका में लियेंगे ।

सन्धि और संहिता ये दोनों एकार्थ हैं ।

(प्र०) संहिता किसको कहते हैं ?

(उ०) परः सन्निकर्षः संहिता । शब्दाविरामः, द्वादाविरामः, पौर्वापर्यमकालव्यवेतं संहिता ।

महा० भा० १, पा० ४, सू०, १०८ भा० ४ ।

जहां पूर्व वर्ण वा पदों का पर के साथ उच्चारण हो अर्थात् शब्द अन्ति और काल का व्यवधान न हो उसको संहिता कहते हैं । वहां अक्षरों के साथ अक्षर, पदों के साथ पद और वाक्यों के साथ वाक्य मिलाकर उच्चारण किये वा लिखे जाते हैं । जैसे—‘अ, अ’ ये दोनों मिल कर ‘आ’ और ‘अ, इ’ मिल कर ‘ए’ इत्यादि अक्षरों, ‘धमा-थेराममोच्चा’ इत्यादि पदों और ‘अग्निमीळे पुराहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्’ इत्यादि वाक्यों की संहिता कहाती है ।

१ अरि दयानन्द कृत अध्याध्यायी भाष्य के तीन अध्याय प्रकाशित हुए हैं । यह ग्रन्थ अरि के जीवनकाल में प्रकाशित न हो सका, अत एव इस में अरि दयानन्द लिखित भूमिका का भी अभाव है ।

(प्र०) अवसान किसको कहते हैं ?

(उ०) विरामोऽवसानम् ॥ अ० १, पा० ४, सू० १०९ ॥

जहां क्रिया और वशे का अभाव तथा कालव्यवधान हो उसको अवसान कहते हैं क्योंकि “वाक्यं वक्तुर्धीनं हि” वाक्य वक्ता के अधीन होता है, चाहे संहिता करे, चाहे अवसान करे । परन्तु इसमें यह नियम समझना अवश्य है कि एकपद, समास और धातु तथा उपसर्ग के योग में तो संहिता ही करना, और वाक्य में संहिता तथा अवसान दोनों पक्ष शुद्ध हैं । सो चार प्रकार का होता है—स्वर, हल, हलस्वर और अयोगवाह सन्धि । स्वरसन्धि उसको कहते हैं कि—जहां दो वा अधिक स्वर मिलकर एक हो जाते हैं । जैसे—अ + अ = आ, अ + इ = ए इत्यादि । हलसन्धि उसको कहते हैं कि—जहां हल् से परे हल् का मेल हो जाता है । जैसे—कात्स्म्यम् । यहां र त् स न य मिले हैं । हलस्वरसन्धि उनको कहते हैं कि—जहां हल और अच् का मेल होता है । जैसे—क + अ = क इत्यादि । और अयोगवाहसन्धि उसको कहते हैं कि—जिसमें अच् और हल् के साथ जिह्वामूलीय, उपध्मानीय, श्रृंकार, अनुस्वार, और विसर्जनीय का मेल होता है । जिह्वामूलीय—देवदत्तः, रिद्धराणि, किद्धरः, रत्ननि इत्यादि । उपध्मानीय—बालकः पठति, वृक्षः फलति इत्यादि । ह्रस्वश्रृंकार—सर्ध्वहितासि । दीर्घश्कार—तेपाश्चसद्व्ययोजने इत्यादि । अनुस्वार—प्रसंमन्ति इत्यादि । विसर्जनीय—परमेश्वरः, इत्यादि । पढ़ने और पढ़ानेवाले ऐसी उत्तमराति में इस को पढ़ें पढ़ावें कि जिसमें संपुक्त शब्दों को यथावत् शब्द जानकर बिना के प्रहण करने और कराने में उपयुक्त होकर शास्त्रों के पढ़ने में सामर्थ्य को प्राप्त करके सुखी हो जायें ।

१ प्राक्पञ्चय निश्रा में ह्रस्व श्रृं और दीर्घश् की व्यवस्था भिन्न किसी है 'ह्रस्वात् परो दीर्घः, दीर्घात् परो ह्रस्वः, अर्थात् ह्रस्व स्वर से परे दीर्घ और दीर्घ स्वर से परे ह्रस्व होता है ।

अथ संज्ञाप्रकरणम्

१-अथ शब्दानुशासनम् ॥ १। १। १ ॥

शब्दानुशासन शास्त्र का अधिकार किया जाता है। अर्थात् शब्दों को कैसे बनाना, बोलना और परस्पर सम्यन्ध करना चाहिये, इस प्रकार की शिक्षा का आरम्भ किया जाता है। यह प्रतिज्ञासूत्र है।

२ अ इ उ ए ॥ ३ ऋ लृ क् ॥ ४ ए ओ क् ॥

५ ऐ औ च् ॥ ६ ह य व र ट् ॥ ७ ल ए ॥ ८ ज

म ङ ण न म् ॥ ९ झ भ ञ् ॥ १० घ ढ ध ष् ॥

११ ज घ ग ङ द श् ॥ १२ ख फ छ ठ थ च ट त

य् ॥ १३ क प य् ॥ १४ श ष स र् ॥ १५ ह ल् ॥

१। १। २-१५ ॥

ए के साथ [मिलकर 'अण्'] संज्ञा को प्राप्त होता है सो 'अ इ उ' का प्राहक होता है। इसी प्रकार 'अध' के कहने से 'अ इ उ ऋ ए ओ ऐ औ' वर्णों का ग्रहण होता है। और जो अच् प्रत्याहार के बीच में 'ए क च्' आदि आते हैं इनका ग्रहण नहीं होता, क्योंकि चौदह सूत्रों के चौदह अन्त्य के हलों को इत् संज्ञा होकर लोप होजाता है। यहां व्याकरण के चौदह सूत्रों में जितने प्रत्याहार बनते हैं उनको निम्नलिखित प्रकार से जानो। जैसे—अकार से सात (७) प्रत्याहार—अण्, अक्, अच्, अट्, अम्, अश्, अल्। इकार से तीन (३) प्र०—इक्, इच्, इण्। उकार से एक (१) प्र०—उक्। एकार से दो (२) प्र०—एह्, एच्। ऐकार से एक (१) प्र०—ऐच्। हकार से दो (२) प्र०—हल्, हश्। यकार में पांच (५) प्र०—यण्, यम्, यञ्, यय, यर्। वकार से दो (२) प्र०—वश्, वल्। रेफ से एक (१) प्र०—रल्। व्यकार से एक (१) प्र०—वम्। मकार में एक (१) प्र०—मच्। ङकार में एक (१) प्र०—ङम्। गकार से पांच (५) प्र०—गश्, गप्, गय्, गर, गल्। भकार से एक (१) प्र०—भप्। जकार से एक (१) प्र० जश्। बकार में एक (१) प्र०—बश्। टकार से एक (१) प्र०—टय्। टकार से दो (२) प्र०—टय्, टर्। धकार में दो (२) प्र०—धय्, धर्। दादकार से दो (२) प्र०—दार्, दार। ये सब मिलकर बयालीस (४२) प्रत्याहार बनते हैं।

ह्रस्व अकार एह अर्थात् ए, ओ इन तीन वर्णों की गुण संज्ञा है। जैसे- तरिता, चेता, स्तोता ।

—२० ह्रलोऽनन्तराः संयोगः ॥ १ । २२ ॥

जिनके बीच में कोई स्वर न हो इस प्रकार के दो वा अधिक ह्रलों की संयोग संज्ञा है। जैसे-इन्द्रः, अग्निः, आदित्यः, इत्यादि ।

२१—मुखनासिकावचनोऽनुनासिकः ॥ १ । २३ ॥

कुछ मुख और कुछ नासिका से जिस वर्ण का उच्चारण हो उसकी अनुनासिक संज्ञा हो। जैसे-‘अ, म, ङ, ए, न’ इन पंच वर्णों तथा य, ल, व और अकारादि स्वरों के सानुनासिक मेंनों का अनुनासिक कहते हैं ।

॥ भा०—यत्र प्राकृतात् प्रयत्नाद् विशेषेऽनुपा-
दीयमाने सन्देहो भवति श्रोष्यति न श्रोष्यतीति,
तद् दूरमिहावगम्यते ॥ महा० ८ । २ । ८४ ॥

जहां स्वाभाविक प्रयत्न से बुलाने में सुनने न सुनने का सन्देह होता है कि जिसको बुलाते हैं वह सुनेगा या नहीं उसको दूर कहते हैं। उदाहरण—आगच्छ भो माणवक देवदत्त ३ x । यहां दूर-ग्रहण इसलिये है कि [समीप से बुलाने में] 'आगच्छ भो माणवक देवदत्त' यहां प्लुत न हो।

३०—हैहेप्रयोगे हैहयोः ॥ ८ । २ । ८५ ॥

'है, है' शब्दों का प्रयोग हो तो दूर से बुलाने में जो वाक्य उस में 'है, है' शब्दों को प्लुतोदात्त हो। उ०—है ३ देवदत्त, देवदत्त है ३; है ३ देवदत्त, देवदत्त है ३। इस में दुबारा 'है, है' ग्रहण इसलिये है कि वाक्य के आदि अन्त में सर्वत्र 'है, है' को प्लुतोदात्त हो जावे।

३१—गुरोरनृतोऽनन्त्यस्याप्येकैकस्य प्राचाम् ॥

८ । २ । ८६ ॥

जो अकार को छोड़ के अनन्त्य गुरु वर्ण है उस एक एक को सम्बोधनवाक्य में विकल्प करके प्लुतोदात्त हो। दे३ वदत्त, यहां 'दे' गुरु है उसको प्लुतोदात्त होता है। देवदत्त, यहां दकार को प्लुतोदात्त होता है। इसी प्रकार य३ज्ञदत्त, इत्यादि। यहां 'गुरु' ग्रहण इसलिये है कि वकार को प्लुत न हो। अकार का निषेध

x यह प्लुतोदात्त वहीं होता है जहां वाक्य के अन्त में संबोधन होता है, इसलिये 'देवदत्त आगच्छ' यहां वाक्य की टि को प्लुत नहीं होता।

इसलिये है कि 'कृष्णदत्तः' यहां ऋकार को प्लुत न हुआ । 'प्राचां' ग्रहण इसलिये है कि [यह] प्लुत उदात्त विकल्प करके हो । आयुष्मानेधि देवदत्तः । यहां एक पक्ष में [अनन्त्य गुरु घर्ष को प्लुत] नहीं होता । ['अपि' ग्रहण इसलिये है कि वाक्य की टि को भी प्लुत हो जावे ।] 'एकैक' ग्रहण इसलिये है कि एक वाक्य में एक साथ कई घर्षों को प्लुत न हो ।

३२—ओमभ्यादाने ॥ ८ । २ । ८७ ॥

अभ्यादान अर्थात् आरम्भ अर्थ में जहां ओम् का प्रयोग किया जाता है वहां प्लुतोदात्त होता है । जैसे—ओ३म् इषे त्वोर्जे वा, ओ३म् अग्निमीळे पुरोहितम्, इत्यादि ।

३३—ये यज्ञकर्मणि ॥ ८ । २ । ८८ ॥

यज्ञकर्म में 'ये' इस पद को प्लुतोदात्त हो । ये३ यजामहे । 'यज्ञकर्म' इसलिये कहा है कि 'ये यजामहे' ऐसा पाठ करनेमात्र में प्लुत न हो, किन्तु विधियज्ञ में जब मन्त्र का प्रयोग हो वहीं प्लुत हावे । 'यजामहे' के साथ ही 'ये' शब्द को प्लुत अभीष्ट है, किन्तु 'ये देवासः' इत्यादि में प्लुत अभीष्ट नहीं ।

३४—प्रणवष्टेः ॥ ८ । २ । ८९ ॥

यज्ञकर्म में टि के स्थान में प्रणव आदेश हो और वह प्लुत हो । पाद वा आर्षा ऋचा के अन्त्य टि संज्ञक (सूत्र ६७) भाग के स्थान में प्लुत ओकार ही प्रणव कहाता है । उदा०—अपां रेतांसि जिन्वतो३म् इत्यादि ।

१ यज्ञकर्म में यह प्रणव आदेश उन्हीं मन्त्रों की टि भाग को होता है जिनका यज्ञकर्म में पाठ मात्र होता है अर्थात् जिन मन्त्रों के अन्त में 'घोषट्' या 'स्वाहा' आदि का निर्देश करके उल से आहुति नहीं दी जाती । यथा—सामधेनी मन्त्र । देवो शांख्यायनधौत अ० १,

३५—याज्यान्तः ॥ ८ । २ । ६० ॥

यज्ञकाण्ड में पढ़े हुए मन्त्रों के अन्त का जो टिसंहक भाग है उसका प्लुत हो। उ०—स्वोमैर्विधेमाम्नये३, जिह्वामग्ने चकृषे हव्यवाहा३म्। इस में 'अन्त' ग्रहण इसलिये है कि कोई कोई ऋचा वाक्यसमुदायरूप हैं उनमें प्रत्येक वाक्य क अन्त्य टिभाग को प्लुत न हो, किन्तु मन्त्रान्त में ही हो।

३६—ब्रूहिप्रेष्यऔपड्वौपडावहानामादेः ॥ ८ । २ । ६१ ॥

ब्रूहि, प्रेष्य, औपट्, औपट् और आवह इनके आदि अक्षर को वृद्धात् प्लुत हो। उ०—अग्नयेऽनुम३हि, अग्नये गोमयान् प्रेष्य, अस्तु औपट्, सोमस्याग्ने वीहा३ वीपट्, अग्निमा३वह।

३७—अग्नीत्प्रेषणे परस्य च ॥ ८ । २ । ६२ ॥

अग्नीध् [सज्ञक] ऋत्विग् विशेष को प्रेरणा करने में आदि और उससे पर को भी प्लुतोदात्त हो। वृद्धाहरण-ओ३ आ३वय, इत्यादि।

३८—विभाषा पृष्टप्रेतिवचने हेः ॥ ८ । २ । ६३ ॥

क० १। इस प्राचीन यज्ञिक परिपाटी से अनभिज्ञ कई महानुभाव उक्त पाणिनीय सूत्र के आधार पर स्वाहान्त मन्त्रों में भी टि को प्रणय आदेश करते हैं, वह अशुद्ध है। क्योंकि ये सूत्र यज्ञ कर्म में स्वतन्त्र विधायक नहीं हैं। याज्ञिक ग्रन्था में कहे हुए नियम के अनुवादक मात्र हैं। अतः पृथ पूर्व सूत्र से 'ये देवास्' में 'ये' पद को प्लुत नहीं होता।

१ यज्ञकर्म ॥ 'वोपट्' शब्द का प्रयोग करके जिन मन्त्रों से आहुति दी जाती है उन को याज्या कहते हैं। ऐसे याज्या मन्त्र मैत्रायणी आदि संहिताओं में जिस स्थान में पढ़े हैं वह याज्याकाण्ड कहाता है।

पूछें हुए के उत्तर देने में हि को प्लुतोदात्त हो विकल्प करके ।
 च०—अकार्षीः कटं देवदत्त? अकार्षे हि ३, अकार्षे हि, इत्यादि ।
 'पृष्टप्रतिवचन' ग्रहण इसलिये है कि 'कटङ्कुरिष्यति हि' यहां न हो ।

३६-निगृह्यानुयोगे च ॥ ८ । २ । ६४ ॥

बादी को प्रमाणों से उस के पक्ष से हरा के [लज्जित करने के लिये]
 उस के मत को प्रकट करने में जो वाक्य [है] उसके टिभाग को
 प्लुतोदात्त विकल्प से हो । उदा०—अनित्यः शब्दः, किसी ने यह
 प्रतिज्ञा की, उसको युक्ति से हरा के उपहासपूर्वक कहे कि 'अनित्यः
 शब्द इत्याद्य ३' आप ने यही कहा था इत्यादि ।

४०-आग्नेडितं भर्त्सने ॥ ८ । २ । ६५ ॥

धमकाने अथे में आग्नेडित वा उसके पूर्वभाग को प्लुतोदात्त
 हो । उदा०—चौर चौर ३, चौर ३ चौर घातयिष्यामि त्वा;
 दस्यो दस्यो ३, दस्यो ३ दस्यो बन्धयिष्यामि त्वा इत्यादि ।

४१-अङ्गयुक्तं तिङाकाङ्क्षम् ॥ ८ । २ । ६६ ॥

अङ्ग शब्द से युक्त सापेक्ष जो तिङन्त है उसके टि को धमकाने
 अर्थ में प्लुतोदात्त हो । उदा०—अङ्ग कृञ् ३, अङ्ग व्याहर ३ इदानीं
 ज्ञास्यसि जाह्नम् । इत्यादि । 'तिङ्' इसलिये कहा कि 'अङ्ग देवदत्त'
 यहां न हो ।

४२-विचार्यमाणानाम् ॥ ८ । २ । ६७ ॥

जो विचार्यमाण वाक्य हैं उनकी टि को प्लुतोदात्त हो । जैसे-

१ द्विवचन में द्वितीय रूप की आग्नेडित सज्ञा होती है (तस्य पर-
 माग्नेडितम् । अ० ८, १, २), परन्तु यहां पर आग्नेडित ग्रहण द्विवचन का
 उपलक्षक मात्र है । अतः पर्याय से दोनों को प्लुत उदात्त होता है । इसी
 को ध्यान में रख कर उपर्युक्त सूचार्थ किया है ।

होतव्यं दीक्षितस्य गृहादेश इति । यद्वा दीक्षित के घर में हवन करना चाहिये [या नहीं करना चाहिये] यह विचार करते हैं^१ ।

४३-पूर्व तु भाषायाम् ॥ ८ । २ । ६८ ॥

लौकिक ऽ योग में विचार्यमाण वाक्यों के पूर्व प्रयोग में प्लुतोदात्त हो । जैसे—अहिर्बुध्नः, रज्जुर्बुध्नः ? यह साप है वा रज्जु ?

४४—प्रतिश्रवणे च ॥ ८ । २ । ६९ ॥

स्वीकार अथे मे जा वाक्य उसके टि को प्लुतोदात्त हो । गतं देहि भो ; अहं ते ददामि ।

४५—अनुदात्तं प्रश्नान्ताभिपूजितयोः ॥ ८ ।

२ । १०० ॥

प्रश्न के अन्त में और अभिपूजित अर्थ में अनुदात्त प्लुत हो । प्रश्नान्त—अगमश्च पूर्वाश्च प्रामाश्च अभिभूताश्च इति, पटाश्च इति । यद्वा 'अगमश्च पूर्वाश्च प्रामाश्च' [पदों में वक्ष्यमाण 'अनन्त्यस्यापि प्रमाख्यानयो' (५०) सूत्र] से प्लुत हुआ है । अभिपूजित—शोभन खल्वसि माणवकश्च इत्यादि ।

४६—चिदिति चोपमार्थे प्रयुज्यमाने ॥ ८ । २ ।

१०१ ॥

उपमार्थवाची चित् अव्यय के प्रयोग में जो वाक्य उसकी टि को प्लुतानुदात्त हो । उदा०—अग्निचिद्भावाश्च, राजचिद्भावाश्च । अग्नि के तुल्य वा राजा के तुल्य तेजस्वी होवे । उपमार्थ इसलिये कहा कि 'कथंचिदाहुः' यद्वा प्लुत न हो । प्रयुज्यमान इसलिये है कि 'अग्निर्माणवको भायात्' यद्वा न हो ।

१. यद्यपि इस सूत्र में छन्दोग्रहण नहीं किया, तथापि उत्तर सूत्र में भाषा ग्रहण से विदित होता है कि यह नियम वैदिक ग्रन्थों के लिये है ।

४७—उपरिस्विदासीदिति च ॥ ८।२।१०२ ॥

उपरिस्विदासीत इस वाक्य के टि को प्लुतानुदात्त हो ।
उपरिस्विदासी३त् ।

४८—स्वरितमात्रेद्धितेऽमूयासंमतिकोपकु-

त्सनेषु ॥ ८।२।१०३ ॥

जो मात्रेद्धित (द्वित्रिचन का परभाग) परे हो तो असूया, संमति, कोप और कुत्सन अर्थ में पूर्वभाग को स्वरित प्लुत हो ।
असूया—माणवक३ माणवक अविनीतोऽसि । संमति—प्रियंवद ३ प्रियंवद शोभनः खल्वसि । कोप—दुर्जन ३ दुर्जेन तूष्णीभव ।
कुत्सन—याष्टीक ३ याष्टीक रिक्ता ते यष्टिः, इत्यादि ।

४९—क्षियाशीः प्रैषेषु तिडाकाङ्क्षम् ॥ ८।

२।१०४ ॥

क्षिया = आचार बिगाडना, आशीर्वाद और आज्ञा देने अर्थ में अन्य उत्तरपद की आकाङ्क्षा रखनेवाला तिङन्त पद प्लुतस्वरित हो । [क्षिया—] स्वयं रथेन याति३ उपाध्यायं पदातिं गमयति ।
[आशीः—] सुताश्च लप्सीष्ट३ धनं च तात । [प्रैष—] कटं कुट्टं ग्रामं च गच्छ । आकाङ्क्षा ग्रहण इसलिये है कि 'दीर्घ' ते आयुरस्तु' यहां प्लुत न होवे ।

५०—अनन्त्यस्यापि प्रश्नाख्यानयोः ॥ ८।

२।१०५ ॥

प्रश्न और आख्यान अर्थ में अनन्त्य और अनन्त्य पद के भी टिभाग को प्लुतस्वरित होवे । अगम३ः पूर्वा३न् प्रामा३न् अप्रिभूता३ः पटा३ः । आख्यान में—अगम३ः पूर्वा३न् प्रामा३न् भोः ।

५१—प्लुतावैच इदुतौ ॥ ८ । २ । १०६ ॥

‘दूराद्धूते’ इत्यादि सूत्रों में जो प्लुत विधान किया है वहां ऐच् को प्लुत होवे तो उसके अवयव इकार उकार का प्लुत हो । ऐरतिकायन, ओ३पगव । यहां जब इवर्ण, उवर्ण [और] अवर्ण का समविभाग समझा जाता है तब इकार उकार द्विमात्र प्लुत होजाते हैं ।

५२—एचोऽप्रगृह्यस्यादूराद्धूते पूर्वस्यार्धस्या-
ऽऽदुत्तरस्येदुतौ ॥ ८ । २ । १०७ ॥

दूर से बुलाने अर्थ को छाड़कर अन्य अर्थों में जो अप्रगृह्य एच् है उसके पूर्व अर्धभाग को आकारादेश हो और उत्तरभाग को इकार उकार आदेश हों ।

५३—भा०—प्रभ्रान्ताभिपूजितविचार्यमाणप्र-
त्यभिवादयाज्यान्तेष्विति वक्तव्यम् ॥ ८ । २ ।
१०७ ॥

जो इस सूत्र में कार्यविधान है वह प्रभ्रान्त, अभिपूजित, विचार्यमाण, प्रत्यभिवाद और याज्यान्तरिषय में समझना चाहिये । प्रभ्रान्त-अगम३ पूर्वा३न् प्रामा३न् अभिभूता३इ, पटा३उ । अभिपूजित-सिद्धोऽसि माणवक३ अभिभूता३इ, पटा३उ । विचार्यमाण-हातव्य क्षीक्षितस्य गृहा३इ । प्रत्यभिवाद-

१ अर्थात् यहां ‘इकार उकार’ की तीन मात्रा नहीं होती, दो मात्रा होती है, क्योंकि एक मात्र अकार की है । यह वृत्तिकार का मत है । भाष्यकार के मत में ‘इ, उ’ की तीन मात्रा होती है और एक मात्रा अकार की अर्थात् ऐच् को चतुर्मात्रिकप्लुत होता है । महाभाष्यकार ने इसी सूत्र पर कहा है—इप्यत एय चतुर्मात्र इत इति ।

आयुष्मानेधि अग्निभूता३इ । याव्यान्त-उक्षात्राय वशात्राय
सोमपृष्टाय वेधसे, स्तामैर्विधेमामया३इ, इत्यादि । पूर्वोक्त विषयों
में परिगणन इसलिये किया है कि 'विष्णुभूते [विष्णुभूते३]
धातयिष्यमि त्वाम्' यहां न हुआ ।

५४—वा०—एचः प्लुतविकारे पदान्तग्रहणम् ॥

महा० ८ । २ । १०७ ॥

जहां एच् को पूरे सूत्र से आदेश करते हों वहां पदान्त [में]
समझना चाहिये । पदान्तग्रहण से यहां नहीं होता—भद्रं करोषि
गौः । [क्योंकि] यहां अन्त में विसर्जनीय है । यहां अप्रगृह्य ग्रहण
इसलिये है कि 'शोभने खलु माले ३' [यहां न हो] ।

५५—वा०—आमन्त्रिते छन्दस्युपसंख्यानम् ।

महा० ८ । २ । १०७ ॥

आमन्त्रित जो एच् उसको वेदविषय में पूर्वोक्त प्लुतविकार हो ।
जैसे—अग्ना३इ पत्नीवः ।

५६—तयोर्वावाचि संहितायाम् ॥ ८ । २ । १०८ ॥

पूर्वोक्त इकार उकार को य् व् आदेश क्रम से हांतें हैं अच् परे
रहते संहिता में । अग्ना३पिन्द्रम्, पटा३बुदक्रम ।

(इति प्लुतप्रकरणम्)

५७—ईदूदेदू द्विवचनं प्रगृह्यम् ॥ १ । १ । २६ ॥

ई, ऊ, ए, ये जिनके अन्त में हों ऐसे जो द्विवचनान्त शब्द वे
प्रगृह्य-संश्रु हों । जैसे—अग्नी इमौ, वायू इमौ, माले इमे, इत्यादि ।

५८—अदसो मात् ॥ १ । १ । २७ ॥

अदस् शब्द के मकार से परे ई, ऊ की प्रगृह्य संज्ञा हो । जैसे—
अग्नी एतं, अमू इति ।

५६—शे ॥ १ । १ । २८ ॥

जो [सुप्] विभक्ति के स्थान में शे आदेश होता है उसकी प्रगृह्य संज्ञा हो। जैसे—अस्मे इन्द्रावृद्धस्पती ।

६०—निपात एकाजनाङ् ॥ १ । १ । २९ ॥

आङ् को छोड़कर जो केवल एक ही अच् निपात है वह प्रगृह्य-संज्ञक हो। जैसे—अ, इ, उ। अ अपकाम, इ इन्द्रं पश्य, उ वृत्तिष्ठ ।

६१—ओत् ॥ १ । १ । ३० ॥

जो ओकारान्त निपात है वह प्रगृह्य संज्ञक हो। जैसे—अथो इति, अहो इमे, ओ इह, इत्यादि ।

६२—संबुद्धौ शाकल्यस्येतावनार्थे ॥ १ । १ । ३१ ॥

जो अनार्थ अर्थात् लौकिक इति शब्द के परे संबुद्धिनिमित्तक ओकार है उसकी शाकल्य ऋषि के मत में प्रगृह्य संज्ञा हो। जैसे—वायो इति। अन्य ऋषियों के मत में—वायविति। यहां 'अनार्थ' प्रदण इसलिये है कि आर्ध अर्थात् वैदिक इति शब्द के परे प्रगृह्य संज्ञा न हा। जैसे—[ब्रह्म] बन्धवित्यब्रवीत् इत्यादि।

६३—उञ् ऊँ ॥ १ । १ । ३२ ॥

शाकल्य आचार्य के मत में अनार्थ इति शब्द परे हो तो उञ् की प्रगृह्य संज्ञा और उञ् के स्थान में ऊँ ऐसा आदेश हो, उसकी भी प्रगृह्य संज्ञा हो। जैसे—उ इति, ऊँ इति। [अन्य ऋषियों के मत में—] विति ।

६४—ईदूतौ च सप्तम्यर्थे ॥ १ । १ । ३३ ॥

सप्तमी विभक्ति के अर्थ में वर्तमान इकारान्त ऊकारान्त शब्द प्रगृह्य संज्ञक हों। उ०—मामकी इति, तनू इति, सोमो गौरी अधि श्रितः ।

६५—नवेति विभाषा ॥ १ । १ । ५८ ॥

निषेध और विकल्प के अर्थ की विभाषा संज्ञा हो ।

६६—अदर्शनं लोपः ॥ १ । १ । ७४ ॥

विद्यमान के अदर्शन की लोप संज्ञा हो ।

६७—अचोऽन्त्यादि टि ॥ १ । १ । ७८ ॥

जो अचो के बीच में अन्त्य अक्षर है उससे लेके जो अन्त्यादि समुदाय सो टिसंज्ञक होता है । जैसे—अग्निचित् । यहां अन्त्य के इत् भाग की टि संज्ञा है ।

६८—अलोऽन्त्यात् पूर्व उपधा ॥ १ । १ । ७९ ॥

जो वर्ण समुदाय पद में अन्त्य वर्ण से पूर्व वर्ण है उसकी उपधा संज्ञा होती है । जैसे—निर्, दुर् । यहां इ, उ की उपधा संज्ञा है ।

६९—ऊकालोऽङ्गस्वदीर्घप्लुतः ॥ १ । २ । २७ ॥

एकमात्रिक, द्विमात्रिक और त्रिमात्रिक अच् क्रम से ह्रस्व, दीर्घ और प्लुतसंज्ञक हों । अ, आ, आ३ ।

७०—सुप्तिङन्तं पदम् ॥ १ । ४ । १४ ॥

सुबन्त और तिङन्त शब्दों की पदसंज्ञा हो ।

७१—प्राग्रीश्वरात्रिपाताः ॥ १ । ४ । ५६ ॥

यह अधिकार सूत्र है । इससे आगे जो कहेंगे उनकी निपात संज्ञा होगी ।

७२—चादयोऽसत्त्वे ॥ १ । ५ । ५७ ॥

जहां किसी द्रव्य के वाचक न हों वहां च आदि शब्द निपात-संज्ञक हों । च, वा, ह, इत्यादि की निपात संज्ञा है ।

७३-प्रादय उपसर्गाः क्रियायोगे ॥ १।४।

५८ ॥

प्र आदि शब्द असत्त्व अर्थ में निपातसंज्ञक और क्रियायोग में उपसर्गसंज्ञक [भी] हों।

७४-गतिश्च ॥ १।४।५६ ॥

क्रियायोग में प्रादि शब्द गतिसंज्ञक भी हों।

७५-परः संनिकर्षः संहिता ॥ १।४।१०८ ॥

पर=अतिशयकर जो संनिकर्ष अर्थात् वर्णों की समीपता है उसकी संहिता संज्ञा हो।

७६-विरामोऽवसानम् ॥ १।४।१०९ ॥

समाप्ति अर्थात् जिसके आगे कोई वर्ण न हो उस अन्तिम वर्ण की अवसान संज्ञा होवे।

॥ इति सहाप्रकरण समाप्तम् ॥

अथ परिभाषाप्रकरणम्

७७-समर्थः पदविधिः ॥ २।१।१ ॥

जो कुछ इस व्याकरण शास्त्र में पद को कार्यविधान सुना जाता है वह समर्थ को जानना चाहिये । व्याकरण में प्रथम यही परिभाषा सर्वत्र प्रयुक्त होती है, क्योंकि "अपदं न प्रयुज्जीत" अपद अर्थात् सुप् तिष्ठ प्रत्यय से रहित शब्द का प्रयोग कभी न करना चाहिये । और सुप् तथा तिष् भी समर्थ ही से होते हैं असमर्थ से नहीं, क्योंकि बिना संज्ञा के सामर्थ्य नहीं होता, सामर्थ्य के बिना उससे प्रत्यय की उत्पत्ति नहीं हो सकती और इसके बिना प्रयोग भी नहीं बन सकता ।

क्योंकि:—"न केवलः प्रकृतिः प्रयोक्तव्या, न च केवलः प्रत्ययः । प्रकृतिप्रत्ययी प्रत्ययार्थं सह मतः" ।

इस महाभाष्य के वचन का अभिप्राय यही है कि [प्रकृतिप्रत्यय] दोनों के मिले बिना कोई भी प्रयोग सिद्ध नहीं हो सकता । इस कारण सामर्थ्य से बिना किसी प्रत्यय कार्य वा कोई व्याकरण की बात पृथक् नहीं हो सकती । इसलिये इसी सूत्र के भाष्य में [कहा है]—

"परिभाषायां च सत्यां यावान् व्याकरणे पदगन्यो नाम स सर्वः संगृहीतो भवति" ।

यह परिभाषा सूत्र है । इसलिये जो कुछ व्याकरण का विषय है उस सब में इस सूत्र की प्रवृत्ति अवश्य होती है, क्योंकि जैसे बिना धातुसंज्ञा के भ्वादि शब्द कृन्संज्ञक प्रत्ययों की उत्पत्ति में समर्थ नहीं होते, और कृत्संज्ञक प्रत्यय भी धातु से परे नहीं हो सकते, वैसे बिना प्रातिपदिक संज्ञा के 'टाप्' आदि श्री और

आदि तद्धित प्रत्यय उत्पन्न ही नहीं हो सकते, क्योंकि विना प्रातिपदिक संज्ञा के उनका सामर्थ्य ही नहीं है जो सुप् आदि प्रत्ययों की उत्पत्ति करा सकें, और सुप्, स्त्री और तद्धितसंज्ञा के विना सुप् आदि प्रातिपदिकों के आगे होने में भी समर्थ नहीं हो सकते, ऐसे ही सर्वत्र समझ लेना। इस सूत्र [के पदच्छेद] में दो पक्ष हैं। प्रथम पक्ष में दो पद और दूसरे पक्ष में एक पद है। इससे आचार्य का यह अभिप्राय विदित होता है कि प्रथमपक्ष से व्यपेक्षाभाव सामर्थ्य, जिसमें पृथक्-पृथक् पद अलग-अलग स्वर और भिन्न-भिन्न विभक्ति रहती हैं उसका प्रकाश और दूसरे पक्ष से एकार्थीभाव सामर्थ्य अर्थात् जिसमें अनेक पदों का एकपद, अनेक स्वरों का एक स्वर, और अनेक विभक्तियों की एक विभक्ति हां जाती है। और जो व्यपेक्षा सामर्थ्य में समर्थ शब्द के आगे उत्तरपद 'विधि' शब्द का लोप भी किया है इससे यह सिद्ध होता है कि व्याकरण आदि सब शास्त्र और लोकव्यवहार में भी समर्थ के लिये सब विधान है, असमर्थ के लिये कुछ भी नहीं। जैसे आँख वाला देखने में समर्थ होता है इसलिये उसको देखने का उपदेश भी करते हैं कि इसको नू देख, अन्ये को कोई नहीं कह सकता, क्योंकि वह देखने में समर्थ नहीं है। वैसे ही कोई सामर्थ्य वाले के लिये जो कुछ विधान करता है वह शुद्ध और सफल, और जो कोई इसमें उलटा करता है वह अशुद्ध और निष्फल समझा जाता है। इसलिए यह सूत्र जितने व्याकरण आदि शास्त्रों के विषय हैं उन सब में लगता है। इससे यह भी समझना कि जो भट्टोजिदीक्षित ने कौमुदी में इस सूत्र का समास ही में प्रवृत्त किया है सो अशुद्ध ही है।

७८-इको गुणवृद्धी ॥ १ । १ । १८ ॥

जहां-जहां गुण और वृद्धि शब्द करके गुण और वृद्धि का विधान करें वहां-वहां इष् ही के स्थान में गुण और वृद्धि होते हैं।

ऐसा सर्वत्र व्याकरण-शास्त्र में समझ लेना । यहां अ, ए और ओ की गुण संज्ञा, आ, ऐ और औ की वृद्धि संज्ञा है । जैसे—कर्ता । यहां ऋ के स्थान में अ गुण होकर रपर हो गया है । चेता—यहां इकार के स्थान में एकार, और स्तोता—यहां उकार को ओकार गुण हुआ है । वृद्धि—आकापीत् । यहां ऋ के स्थान में आर वृद्धि, 'अनैपीत् अचैपीत्'—यहां ई और इ के स्थान में ऐ, और 'अलावीत्, अस्तावीत्'—यहां ऊ और उ के स्थान में औ वृद्धि हुई है । इक् प्रहण इसलिये है कि 'अन्तगः' यहां ओष्ठस्थानी गम् धातु के मकार व्यञ्जन के स्थान में ओष्ठस्थानी ओकार गुण न होवे । और गुण वृद्धि प्रहण इसलिये है कि जहां संज्ञा शब्दों से गुण वृद्धि कहीं नहीं इक् के स्थान में हो । द्यौः—यहां दिव् शब्द को औकारादेश कहा है, सो संज्ञापूर्वक विधि के न होने मधेकार के स्थान में होता है, और 'सः' यहां दकार के स्थान में अकारादेश होता है ।

१. सार्वधातुकार्धधातुकयोः (आ० २१) सूत्र से । २. उरण् रपरः (सन्धि० ८५) सूत्र से । ३. सार्वधातुकार्धधातुकयोः (आ० २१) सूत्र से । ४. वृद्धि के सब उदाहरणों में 'सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु' (आ० १५८) से वृद्धि होती है । सन्धिविषय के अन्य संस्करणों में वृद्धि के 'कारकः, नायकः, ऐतिहास्यः, पावरः, औपगवः' उदाहरण दिये हैं वे ठीक नहीं हैं, क्योंकि इन उदाहरणों में 'अघोऽन्यति' (आ० ६१) और 'तद्धितेष्वचामादेः' (खै० ९१४) सूत्र से वृद्धि होती है । यहां स्थानी का 'अचः' स्पष्ट निर्देश किया है । इस सूत्र की प्रवृत्ति यहां होती है जहां स्थानी का निर्देश न हो । जैसे—सार्वधातुकार्धधातुकयोः (आ० २१) । क्योंकि यह परिभाषा सूत्र है, परिभाषा सूत्रों की प्रवृत्ति वहीं होती है जहां अनियम की प्राप्ति हो—अनियमप्रसंगे नियमकारिणी परिभाषा । ५. दिव औन् (ना० १५१) सूत्र से । ६. त्वदादीनामः (ना० १७६) सूत्र से ।

७६-आद्यन्तवदेकस्मिन् ॥ १।१।३५ ॥

जैसे आदि और अन्त में काये होते हैं वैसे एक में भी हों अर्थात् अनेकाश्रित कार्य एक का भी हो जावे। जिससे पूर्व कोई न हो और परे हो उसको आदि^१ और जिससे परे कोई न हो पूर्व हो उसको अन्त^२ कहते हैं। इस कारण आदि अन्त को कहे हुए काये एक में नहीं बन सकत, इसलिये यह परिभाषा है। जैसे-‘आर्धधातुकस्येड् वलादे’^३ अङ्ग से परे वलादि आर्धधातुक को इट् का आगम होता है सो ‘करिष्यति हरिष्यति’ यहा तो स्य प्रत्यय के वलादि होन से होजाता है और ‘जापिपत्, मन्दिपत्’ यहा केवल एकाक्षर (सिप्-का स्) वल प्रत्यय होन से नहीं प्राप्त होता था, इस परिभाषा सूत्र से यहा भी हो गया। अन्तवत्-जैम-घटाभ्याम्, पटाभ्याम्। यहा अदन्त अङ्ग को दीर्घ होता है^४, आभ्याम्-यहा केवल अकार के होने से दीर्घ नहीं प्राप्त था, अन्तवत् मान के हो जाता है।

८०-आद्यन्तौ टकितौ ॥ १।१।६० ॥

जो टकार और ककार अनुबन्धवाले आगम हों वे आदि [और] अन्त में यथास्तुथ्य करके हा जावें। अर्थात् टित् आगम जिसको कहा हो उसी के आदि गों और कित् जिसको विधान किया हो उसको अन्त में हो जावे। जैसे टित्-पुरुषाणाम्। यहा लुट्^५ आम् के आदि में, अभवत्-यहा अट्^६ का आगम धातु के आदि में, भविता-यहा इट् का आगम^७ प्रत्यय के आदि में हुआ है।

१. यस्मात् परमस्ति पूर्वं नास्ति स आदिरित्युच्यते। महाभाष्य १।१।३५॥

२. यस्मात् पूर्वमस्ति पर नास्ति सोऽन्त इत्युच्यते। महाभाष्य १।१।३५॥

३. आ० ४७। ४. सुपि च (ना० २६) सूत्र से। ५. ह्रस्वन्पापो

लुट् (ना० ३२) सूत्र से। ६. लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वङ्दात् (आ० ७५) सूत्र

से। ७. आर्धधातुकस्येड् वलादे (आ० ४७) सूत्र से।

क्रित्-सोमसुत्, जटिलो भीषयंत । यहां तुक्^१ और पुक्^२ आगम भी धातु के अन्त में द्रष्टे हैं इत्यादि ।

८१—मिदचोऽन्त्यात्परः ॥ १ । १ । ६१ ॥

जो मिच् आगम वा प्रत्यय है वह अन्त्य अच् से परे होता है । जैसे-नुम्-निन्दति, नन्दति^३ । शनम्-कणद्धि^४ । मुम्-वाचं-यमः^५ । नुम्-कुलानि, यशांसि^६ इत्यादि ।

८२—एच इग्रस्वादेशे ॥ १ । १ । ६२ ॥

जहां-जहां एच् के स्थान में ह्रस्व आदेश विधान करें वहां-वहां इक् ही ह्रस्व हां जावे । जैसे-गो-चित्रगुः, शयलगुः । यहां ओकार के स्थान में उकार, ऐ-अतिरि-यहां ऐकार के स्थान में इकार और औ-अधिन-यहां औकार के स्थान में उकार आदेश होता है^७ इत्यादि ।

८३—पष्ठी स्थानेयोगा ॥ १ । १ । ६३ ॥

जो-जो इस व्याकरणशास्त्र में अनियतयोगा पष्ठी (अर्थात् जिसका नियम नहीं किया कि इस पष्ठी का योग इसमें हो) हैं वह-वह स्थानेयोगा समझनी चाहिये अर्थात् स्थान में उसका योग हांवे । जैसे - 'अलोऽन्त्यम्य'^८ = यहां 'अलः, अन्त्यस्य' ये दोनों पष्ठी हैं, सो अनियतयोगा होने से स्थानेयोगा समझी जाती हैं । जैसे—

१. ह्रस्वस्य पिति कृति तुक् (भा० ६ । १ । ७०) सूत्र से ।

२. मियो हेतुमये पुक् (भा० ४९०) सूत्र से । ३. इदितो तुम् धातोः (भा० १२७) सूत्र से । ४. कणादिभ्यः शनम् (भा० ४३५) सूत्र से ।

५. वाचंयमपुनन्दरी ॥ (भा० १०६६) सूत्र से । ६. नपुंसकस्य शलचः (ना० ४३) सूत्र से । ७. ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य (ना० ४७) सूत्र से । ८. सन्धि० ८६ ।

‘इको गुणवृद्धी’^१ ‘इक’ यह पष्ठो है इक् के स्थान में गुण वृद्धि होवे। स्थान शब्द का लाभ इसी परिभाषा से सर्वत्र होता है, और जहाँ जहाँ पष्ठो का नियम विदित होता है कि इस पष्ठो का याग यहाँ हो। वहाँ-वहाँ स्थान शब्द की उपस्थिति नहीं होता। जैसे—‘शास इदद्दहलो’^२ यहाँ शास धातु की उपधा को इत् आदेश है [अर्थात् ‘शास’ यह अवयव पष्ठो है] इत्यादि।

८४—स्थानेऽन्तरतमः ॥ १ । १ । ६४ ॥

जो जो आदेश जिस जिस के स्थान में प्राप्त हो वह-वह अन्तरतम अर्थात् सदृशतम हो। अन्तरतम उसको कहते हैं कि-जो अप्यन्त सदृश हो। जो किसी के स्थान में होता है वही आदेश कहा जाता है, सो स्थान शब्द का लाभ तो पूर्व परिभाषा से हुआ, परन्तु जो स्थान में प्राप्त आदेश है वह कैसा होना चाहिये सो नियम इस परिभाषा से करत हैं। सादृश्य चार प्रकार का होता है, तद्यथा-स्थानकृतम्, अर्थकृतम्, प्रमाणकृतम्, गुणकृतञ्चेति। स्थानकृत अन्तरतम उसको कहते हैं कि जो जा कण्ठ आदि स्थान आदेश का हो वही आदेश का भी होना अवश्य है। जैसे—दण्ड + अमम् = दण्डामम्। यहाँ पूर्व पर कण्ठस्थानी दो अकारों के स्थान में दीर्घ एकादेश कहा है,^३ सो स्थानकृत आन्तर्य मान के कण्ठस्थान-वाले दोनों अकारों के स्थान में कण्ठस्थानवाला ही दीर्घ आकार होता है, भिन्न स्थान होने से ईकार, ऊकार नहीं होत। अर्थकृत आन्तर्य उसको कहते हैं कि जहाँ जैसा एक, दो और बहुत अर्थों का बोधक स्थानी हो वहाँ वैसा ही आदेश भी होना चाहिये, स्थान सदृश हो वा नहीं हो। जैसे—‘तस्थस्थमिषा तान्तन्ताम्’^४ भवताम्। यहाँ “तस” प्रत्यय दो अर्थों का बोधक स्थानी है उसके

स्थान में 'ताम्' आदेश भी दो अर्थों का बोधक ही होता है। इसी प्रकार 'थस्' आदि के स्थान में भी समझना चाहिये। प्रमाणकृत सादृश्य वहे कहाता है कि जो एकमात्रिक स्थानी हो तो उसके स्थान में एकमात्रिक का ही आदेश भा हावे और द्विमात्रिक के स्थान में द्विमात्रिक आदेश हाना अवश्य है इत्यादि। जैसे-अमुष्मे, अमूभ्याम्। यहा एकमात्रिक स्थानी है उसके स्थान में एकमात्रिक और द्विमात्रिक के स्थान में द्विमात्रिक ही आदेश होता है^१। गुणकृत आन्तर्ये उसको कहते हैं कि जो अल्पप्राण स्थानी हा तो उस के स्थान में अल्पप्राणवाला आदेश, और महाप्राण स्थानी हा तो महाप्राणवाला ही आदेश होवे। जैसे-वाग्धसति, त्रिण्डुव्भसति। यहा हकार क स्थान में पूर्येसवण आदेश की प्राप्ति^२ में जैसा हकार मादवान् और महाप्राण गुणवाला है उसके स्थान में आदेश भी वैसा ही होना चाहिये। सो ये दोनों गुण वर्गों के चतुर्थ वर्णों में हैं इस कारण गुणकृत आन्तर्यमान क घकार और भकार ही होते हैं इत्यादि।

प्र०-भा०-स्थान इत्यनुवर्तमाने पुनः स्थान-ग्रहणं किमर्थम् ? ॥ १ । १ । ६४ ॥

पूर्ये सूत्र से स्थान की अनुवृत्ति आजाती फिर स्थानग्रहण का प्रयोजन क्या है ?।

उ०-यत्रानेकविधमान्तर्यं तत्र स्थानत एवान्तर्यं बलीयो यथा स्यात् ॥ १ । १ । ६४ ॥

जहा अनेक प्रकार के अर्थोत् स्थानकृत आदि दो तीन वा चारों

१ 'अद+स्मे' में एक मात्रिक और 'अमा+भ्याम्' में द्विमात्रिक को 'अदसोऽमेर्दादु दो म' (ना० १८८) से क्रमश 'उ' और 'ऊ' होता है।

२. सयो होऽन्यतरस्याम् (सन्धि० २३९) सूत्र से।

आन्तर्य मिलते हैं वहां स्थानकृत जो आन्तर्य है अत्यन्त बलवान् होने से वहां पृष्ठ किया जाता है। जैसे—चेता, स्तोता। यहां एक-मात्रिक इकार उकार के स्थान में प्रमाणकृत आन्तर्य को मानकर अकार गुण पाता है सो न हो, स्थानकृत आन्तर्य से तालु और ओष्ठस्थानवाले एकार और ओकार हो जाते हैं, यह द्वितीय स्थान-ग्रहण का प्रयोजन है। और यहां 'तम' ग्रहण इसलिये है कि "वाग्धसति" यहां महाप्राण हकार के स्थान में महाप्राण आदेश किया चाहें तो द्वितीय खकार प्राप्त है, और जो नादवान् किया चाहें तो तृतीय गकार प्राप्त होता है, तमग्रहण के होने से वर्गों का 'घ' आदि चौथा वर्ण [जो] महाप्राण और नादगुण वाला है वह होता है।

८५—उरण् रपरः ॥ १ । १ । ६५ ॥

जहां ऋ के स्थान में अण् का प्रसङ्ग अर्थात् अण् करने लगे [तो] तत्काल ही रपर हो, अर्थात् उस अण् से परे रेफ भी हो जावे। जैसे—रुर्ता, हर्ता। यहां ऋ के स्थान में अकार गुण हुआ है^१ इसी से अण् से परे रेफ भी हो जाता है। किरिः, गिरिः। यहां जो 'क' और 'ग' धातु के स्थान में इकारादेश किया है^२ वह रपर हो गया है। और 'द्वेमातुरः' यहां उकार भी रपर हुआ है^३। यहां 'उः'

१. तत्काल रपर करने का प्रयोजन यह है कि पहले अण् को रपर कर के पञ्चान् अन्तरतमत्व का निर्धारण हो। अन्यथा ऋ को गुण प्रसङ्ग में 'अ, ए, ओ' इन में से कोई भी आदेश नहीं होगा, क्योंकि किसी का सादृश्य नहीं मिलता। 'स्थानेऽन्तरतमः' सूत्र की प्रवृत्ति से पहिले रपर कर देने से 'अ' में रेफ भीर ऋकार का स्थान मिल जाता है। २. सार्व-धातुकार्धधातुव्योः (भा० २१) सूत्र से। ३. फल इदातोः (भा० २१५) सूत्र से। ४. मातुरण् संख्यासंभ्रमपूर्वायाः (श्रौ० १९२) सूत्र से।

ग्रहण इसलिये है कि 'अवदासं मुगम्' यहां दैव धातु के ऐकार के स्थान में आकार हुआ है' सो स्वर न हो जावे । 'अण्' ग्रहण इसलिये है कि 'सौधातकिः' यहां ऋकार के स्थान में अरुह् आदेश होता है' सो स्वर न होवे ।

८६—अलोऽन्त्यस्य ॥ १ । १ । ६६ ॥

जहाँ-जहाँ पछीनिर्दिष्ट के स्थान में आदेश कहे वहाँ-वहाँ [उस] के अन्त्य अल् के स्थान में होवें । जय 'त्यदादीनामः' [सूत्र से] विभक्ति के परे त्यदादि शब्दों के स्थान में अकारादेश होवे ऐसा कहे, तब इसी परिभाषा की प्रवृत्ति होवे कि जो अन्त्य वर्ण इकार है उसके स्थान में अकारादेश हा जाता है । जैसे-स्यः, सः, यः, इदम्, इत्यादि ।

८७—डिच ॥ १ । १ । ६७ ॥

जो डिच् अर्थात् जिसका इकार इत् जाय ऐसा अनेकाल् भी आदेश अन्य अल् के स्थान में हो । यहाँ पूर्व सूत्र की अनुवृत्ति आती है । जैसे-अनङ्-होतापोतारी, मानापितरी । यहाँ अनङ् आदेश^१ अन्त्य अल् ऋकार के स्थान में होता है । यह सूत्र (८९) सूत्र का अपवाद है ।

(प्र०) तातह आदेश [डित् होने से] अन्त्य अल् के स्थान में प्राप्त है सो क्यों नहीं होता ?

(उ०) भा०-एवं तर्ह्येतदेव ज्ञापयति, न तात-

१. भादेव उपदेशोऽनिति (भा० २४२) सूत्र से । २. सुधातुररुह् च (शे० १०३) सूत्रसे । ३. ना० १०६ । ४. इदमो मः (ना० १०९) सूत्र से अन्त्य मकार के स्थान में मकार होता है । ५. ऋदुशनसपुरु-इंसोऽनेइसां च (ना० ९६) सूत्र से ।

अन्त्यस्य स्थाने भवतीति—यदेतं हितं करोति ।
इतरथा हि लोट् एरुप्रकरण एव ब्रूयात् तिह्योस्ता-
दाशिष्यन्यतरस्यामिति ॥ महा० १ । १ । ६७ ॥

यह इसी सूत्र पर महाभाष्यकार ने समाधान किया है कि जिस कारण तातङ् आदेश हित किया है इसी से आचार्य की शैली स्पष्ट विदित होती है कि यह अन्य अल् के स्थान में नहीं होता । जो अन्य अल् के स्थान में करना होता तो तृतीयाऽध्याय के चतुर्थपाद में 'लोढो लङ्यत्, एरुः' इन सूत्रों के आगे 'तात्' आदेश कहते । इस में लाघव भी बहुत आता था । जो लोट लकार का 'ति' और 'हि' का इकार उसको तात् आदेश विकल्प करके होवे, ऐसा कहने से अन्य अल् इकार के स्थान में हो ही जाता, फिर 'अङ्' मात्र के अधिक पढ़ने और सप्तमाध्याय के प्रथमपाद में तातङ् आदेश के कहने से ठीक जाना जाता है कि तातङ् आदेश में हितकरण [अन्यादेश के लिये नहीं है,] गुण वृद्धि प्रतिषेध आदि के लिये है, इस कारण अन्य अल् के स्थान में नहीं होता ।

८८—आदेः परस्य ॥ १ । १ । ६८ ॥

जो पर अर्थात् उत्तर को कार्य कहें यह [उस के] आदि अल् के स्थान में समझना चाहिये । यह सूत्र 'तस्मादित्युत्तरस्य' इस सूत्र का शेष है, यहां पढ़ने का प्रयोजन यह है कि अल् की अनुवृत्ति इसमें आ जावे, अन्यत्र पढ़ने से फिर अल् ग्रहण करना होता । जैसे—आसीनोऽधीतं । यहां आस धातु से उत्तर आन को ईकारादेश कदा है^१, सो उसके आदि अल् अकार के स्थान में हा जाता है ।

१. क्रमशः, आ० ६८, ६९ । २. सन्धि० १०० । ३. ईदासः ।

दीपम् । यहां द्वि शब्द से परे अप् शब्द को ईकारादेश कहा है^१ सो उसक आदि अल् अकार के स्थान में हो जाता है ।

८६—अनेकाल्शित् सर्वस्य ॥ १ । १ । ६६ ॥

जो अनेकाल् और शित् आदेश हो वह सम्पूर्ण के स्थान में हो जावे । अनेकाल् जिसमें अनेक बणें हों, शित् अर्थात् जिसका शकार इत् जाय । जैसे—अस्तेर्भूः^२ । यहां अस् धातु के स्थान में भू आदेश अनेकाल् होने से सप्त के स्थान में हो जाता है । भविष्यति, भविष्य-व्यम्, इत्यादि । शित्—इदम् इश्^३ । विभक्ति के परे इदम् शब्द के स्थान में इश् आदेश होता है, सो शित् होने से सप्त के स्थान में हो जाता है । इतः, इह इत्यादि ।

६०—स्थानिचदादेशोऽनल्चिधौ ॥ १ । १ । ६६ ॥

जो आदेश है वह स्थानी के तुल्य होवे अर्थात् जो काम स्थानी से सिद्ध होता है वही आदेश से भी होवे, परन्तु जो अलाभ्यविधि कर्तव्य हो तो आदेश स्थानिवत् न हो । स्थानी उसको कहते हैं कि जो प्रथम तो हो [और] पीछे न रहे, और आदेश उसको कहते हैं कि जो प्रथम न हो और पीछे हो जावे । जो एक के तुल्य दूसरे को मानकर कोई काम करना है उसको अतिदेश कहते हैं । स्थानी और आदेश के धृक्-पृथक् होने से स्थानी का कार्य आदेश से नहीं निकल सकता, इसलिये आदेश को स्थानिवत् अतिदेश करते हैं । जैसे—राजा । यहां विभक्ति लोप होने पर भी पदसंज्ञा रहती है^४, इत्यादि । आवधिपीष्ट । यहां हन धातु के स्थान में वध आदेश हुआ

१. इदन्तरूपसर्गोन्मोऽप ईत् । सा० ३५२ । २. भा० ३५३ ।

३. जै० ७३५ । ४. विभक्तिलोप—हल्ङ्गाव्यो दीर्घा० (ना० ४८) सूत्र से । पदसंज्ञा—सुतिवन्तं पदम् (ना० १३) सूत्र से ।

स्थान में इकार संप्रसारण हुआ है, सो जो स्थानिवत् माना जाय तो 'हशि च'^१ इस सूत्र से उत्त्व प्राप्त है, सो नहीं होता। अल् करके जो विधि वहां स्थानिवत् न हो—व्यूढोरस्केन, महोरस्केन। यहां विसर्जनीय के स्थान में सकारादेश हुआ है,^२ उसको यदि स्थानिवत् मानें तो विसर्जनीय जो अयोगवाहों में प्रसिद्ध है उसका अट् प्रत्याहार में पाठ मानकर^३ नकार को एकारादेश प्राप्त है^४ सो नहीं होता, इत्यादि इस सूत्र का महान् विषय है, विशेष महाभाष्य में देख लेना।

६१—अचः परस्मिन् पूर्वाविधौ ॥ १। १। ७१ ॥

जिस अच् के स्थान में आदेश होनेवाला हो उसके परे पूर्व को विधि करना हो तो अच् के स्थान में जो आदेश है वह स्थानिवत् होजावे। जिसलिये पूर्व सूत्र में अलविधि में स्थानिवद्भाव का निषेध किया और वही विषय में इस सूत्र में स्थानिवद्भाव का विधान है इसलिये यह सूत्र उसका अपवाद है। जैसे—पटयति। यहां पटु शब्द से णिच् प्रत्यय के परे उसके उकार का लोप हुआ है, उस उकार को इस सूत्र से स्थानिवत् मानने से वृद्धि नहीं होती।^५ यहां 'अच्'

१. धचिस्वपियजादीनां कृति (आ० २८३) सूत्र से। २. सन्धि० २५४। ३. विसर्जनीयस्य सः (सन्धि० २६०) सूत्र से। ४. अयोग-वाहानामट्सु णत्वम्। महा० अ० १, पा० १, आ० २। ५. अट्कुप्वाङ्नुम् व्यवायेऽपि (ना० २५) सूत्र से। ६. 'पटुं करोति' इस अर्थ में 'तत्करो-तीत्युपसंख्यानं सूत्रयस्याद्यर्थम्' (आ० ६१२) से णिच्, 'प्रातिपदिकाद् धात्वर्थे बहुलमिष्टवच्च' (आ० ६११) से इष्टवद्भाव होकर 'टः' (सूत्र० ८८९) से टिलोप 'पट्+इ' इस अवस्था में 'अत उपधायाः' (आ० १२६) से उपधा अकार को वृद्धि प्राप्त होती है वह उकार लोप को स्थानिवत् मानने से नहीं होती, क्योंकि स्थानिवत् होने पर उपधा में अकार नहीं रहता।

ग्रहण इसलिये है कि हल् के स्थान में जो आदेश है वह स्थानिवत् न हो। जैसे—आगत्य^१ 'जो यहां गकार का लोप हुआ है' उसको स्थानिवत् मानें तो तुक् का आगम^२ नहीं पावे। 'परस्मिन्' ग्रहण इसलिये है कि जहां परनिमित्तक अच् का आदेश न हो वहां स्थानिवद्भाव न हो। जैसे—आदीभ्ये। यहां जो इट् प्रत्यय को एकादेश होता है^३ वह परनिमित्त नहीं है उसको यदि स्थानिवत् मानें तो दीर्घा धातु के ईकार का लोप 'यीषर्णयोर्दीधीवेभ्यो' से होजावे, सो नहीं होता। 'पूर्वविधि' ग्रहण इसलिये है कि जहां परविधि कर्तव्य हो वहां स्थानिवद्भाव न हो। जैसे—नैधेय। यहां जब जुधाब् धातु के आकार का लोप कित् प्रत्यय के परे होता है^४ तब निधि शब्द बनता है, उस आकार को यदि स्थानिवत् मानें तो द्वयच् प्रातिपदिकाभक्त जो ङक् प्रत्यय^५ होता है वह नहीं हो सके। परविधि यही है कि प्रातिपदिक से परे प्रत्यय होते हैं।

६२—न पदान्तद्विर्वचनवरेयलोपस्वरसवर्णानु-
स्वारदीर्घजश्चविधिषु ॥ १। १। ७२ ॥

पदान्त, द्विर्वचन, वरे, यलोप, स्वर, सवर्ण, अनुस्वार, दीर्घ जश्, चर इन विधियों के करने में जो पर को निमित्त मान के आदेश होता है वह स्थानिवत् न होवे। जो पूर्व सूत्र से स्थानिवद्भाव का विधान किया है उसी का नियत स्थानों में यह सूत्र निषेध करता है। जैसे—पदान्तविधि—नौ स्तः। यहां अस् धातु के अकार का लोप पर को मानकर हुआ है^६ उसको स्थानिवत् मान के जो

१. गमः कौ (आ० १११५) सूत्र से। २. ह्रस्वस्यपिपति इति तुक् (सन्धि ०२०६) सूत्र से। ३. दित आत्मनेपदानां ढेरे (आ० ९८) सूत्र से। ४. आ० ३०३। ५. आतो लोप इटि च (आ० २४४) सूत्र से। ६. द्वयच्. (स्त्री० २०१) सूत्र से। ७. असोरलोप (आ० ३५२) सूत्र से।

आव आदेश प्राप्त है, सो नहीं होता । द्विवचनविधि—दद्व्यत्र ।
 यहाँ इकार को यणादेश पर को मानकर हुआ है,^१ उसके स्थानिवत्
 होने से धकार को द्विवचन^३ नहीं पाता इसलिये द्विवचनविधि में
 स्थानिवद्भाव का निषेध किया है । घरे विधि—अर्थात् जो घरच् प्रत्यय
 के परे लोप होता है वहाँ स्थानिवद्भाव न होवे । जैसे—यायाघरः ।
 जो यहाँ अकार का लोप परनिमित्त हुआ है, उसके स्थानिवत् होने
 से आकार का लोप प्राप्त है,^२ सो न हुआ । यलोपविधि—प्राप्त्यक-
 रणविधिः । यहाँ यक् प्रत्यय के अकार का लोप पर को मानकर हुआ
 है,^४ उसके स्थानिवत् होने से यकार का लोप^५ नहीं पाता था ।
 स्वरविधि—चिकीर्षकः । यहाँ यणुल् प्रत्यय के परे चिकीर्ष धातु के
 अकार का लोप होता है,^६ उसके स्थानिवत् मानने से लित् प्रत्यय

१. एचोऽथयायाय (सन्धि० १८०) सूत्र से । २. इको यणचि
 (सन्धि० १७९) सूत्र से । ३. अनचि च (सन्धि० २२२) सूत्र से
 इल् परे रहने पर द्विवचन होता है । ४. या + यद् = यायाय, इस अव-
 स्था में 'यश्च यट' (भा० १३१२) से घरच् प्रत्यय हुआ । उस के परे
 'अतो लोप' (भा० १७२) से अकार लोप और 'लोपो ष्योर्बलि
 (अष्टा० ६।१।६६) से यकारलोप होकर 'याया + घर' इस अवस्था
 में यल् के अकार को स्थानिवत् मान के 'आतो लोप इटि च' (भा०
 २४४) से आकार का लोप प्राप्त होता है । ५. कण्डू—कण्डूवादिभ्यो
 यक् (भा० ६१८) से यक्, 'किञ्चौ च सञ्ज्ञायाम्' (भा० १५१८)
 से क्तिच्—कण्डू + य + ति । उस के परे 'अतो लोपः' (भा० १७२)
 से अकार लोप होता है । ६. कण्डू + य् + ति इस अवस्था में 'लोपो
 ष्योर्बलि' (अष्टा० ६।१।६६) सूत्र से होने वाला यलोप । ७. अतो
 लोपः (भा० १७२) सूत्र से ।

से पूर्व 'की' में 'उदात्त स्वर' इष्ट है वह नहीं हो सकता,^१ सो हो गया। सवर्णविधि-रुन्धः। यहां इनम् प्रत्यय के अकार का लोप हुआ है,^३ उसके स्थानिवत् होने से घकार के परे अनुस्वार को परसवर्ण^४ अर्थात् नकारादेश नहीं पाता था, सो हुआ। अनुस्वारविधि-दिपन्ति। यहां इनम् प्रत्यय के अकार का लोप हुआ है,^२ उसके स्थानिवत् होने से नकार को अनुस्वार नहीं प्राप्त होता था,^५ सो हो गया। दीर्घविधि-प्रतिर्भावना। यहां प्रतिदिवन् शब्द के अकार का लोप हुआ है,^६ उसके स्थानिवत् होने से दीर्घ नहीं पाता था, सो हो गया। जश्विधि-सन्धिः। यहां घस् धातु के अकार का लोप हुआ है,^७ उसके स्थानिवत् होने से क्तिन् प्रत्यय

१. हिति (सौ० ४९) सूत्र से प्राप्त। २. 'चिकीर्षे + अक' इस अवस्था में यदि अकारलोप स्थानिवत् माना जाय तो 'की' ण्युत् प्रत्यय से अभ्यवहित पूर्व नहीं रहता, बीच में अकार का व्यवधान हो जाता है। ३. इनसोरलोप (भा० ३५२) सूत्र से। ४ अनुस्वारस्य ययि परसवर्ण (सन्धि० १९७) सूत्र से। क्योंकि अकारलोप के स्थानिवत् होने से यय परे नहीं रहता, अकार का व्यवधान हो जाता है। ५. इनसोरलोप (भा० ३५२) सूत्र से। ६ नञापदान्तस्य झलि (सन्धि० १९२) सूत्र से झल् परे अनुस्वार होता है। अकारलोप के स्थानिवत् होने से झल् परे नहीं रहता। ७. अलीपोऽन (भा० ७३) सूत्र से। ८. हलि च (भा० १४०) सूत्र से हल् परे रहने पर दीर्घ होता है, अकारलोप के स्थानिवत् होने से हल् परे नहीं रहता। ९. समान + घस् + क्तिन्। घसिमसोर्हलि च (भा० ३९३) से अकार लोप, 'झलो झलि' (भा० १४२) से सकार लोप होकर 'समान + घ् + ति'।

के तकार को घकार^१ नहीं पाता था, सो होगया। चर्विधि-
जक्षतुः। यहा भी घस् घातु के अकार का लोप हुआ है, उसके
स्थानिवत् होने से घकार का ककारादेश^२ नहीं प्राप्त होता था, सो
होगया।

६३—घा०—प्रतिषेधे स्वरदीर्घयलोपविधिषु लोपा-
जादेशो न स्थानिवत् ॥ महा० १। १। ७२ ॥

जो सूत्र से पदान्त आदि विधियों में निषेध किया है वह इस
प्रकार से होना चाहिये कि स्वर, दीर्घ और यलोपविधि क करने में
अच् के स्थान में जो लोपरूप आदेश है वही स्थानिवत् न हो, अन्य
आदेश तो स्थानिवत् हो ही जावे। जैसे—स्वरविधि—पञ्चारस्य०।
यहा इकार के स्थान में यणादेश हुआ है^३ उसके स्थानिवत् होने
से [अर्थात् इगन्त मानकर] 'इगन्तकालकपाल०'^४ इस सूत्र से
पूर्वपदप्रकृतिस्वर हो जाता है। दीर्घविधि—किर्यो०। यहा किरि शब्द
के इकार के स्थान में यणादेश होगया है^५, उसके स्थानिवत् होने से

१. क्षपस्तपोर्धोऽघ (भा० १४१) से क्षप् से उत्तर तकार को
घकार होता है। अकार के स्थानिवत् होने से क्षिप् का तकार क्षप् से
उत्तर नहीं रहता, बीच में अकार का व्यवधान हो जाता है। 'समा-
नस्य छन्दस्यमूर्धं०' (सा० २२१) सूत्र से समान के स्थान में तकार
आदेश होता है। २. 'घस्+अतुस्' इस अवस्था में 'यमहनजन
खनघसा०' (भा० २१३) से अकारलोप, द्विवचन—'जघस्+अतुस्'।
'खरि च' (सन्धि० २३५) से खर् पर रहने पर घ् को क् होता है।
यदि अकारलोप स्थानिवत् हो जावे तो घर् आदेश नहीं हो सकता।
३. पञ्चारक्षी+जस् = पञ्चारक्षी+अस्, इस अवस्था में 'इको यणचि'
(सन्धि० १७९) से यणादेश होता है। ४. अष्टा० ४। २। २९ ॥
५. इको यणचि (सन्धि० १७९) सूत्र से।

दीर्घ' नहीं होता। यलोपविधि-वाच्योः । यहां वकार के स्थान में वकार हुआ है, उसके स्थानिवत् होने से यकार का लोप^३ नहीं होता।

६४—वा०—क्विलुगुपधात्वच्चङ्परनिर्हासिकु-
त्वेपूपसंरूपानम् । महा० १ । १ । ७२ ॥

यह दूसरा वार्तिक सूत्र के विषयों से अलग स्थानिवद्भाव का निषेध करता है। कौ लुक्ते न स्थानिवत्—जहां क्विप् प्रत्यय के परे किसी का लोप हुआ हो वहां स्थानिवद्भाव न हो। [जैसे—] लौ । यहां क्विप् प्रत्यय के परे णिच् प्रत्यय का लोप हुआ है, उसके स्थानिवत् नहीं होने से वकार को ऊठ् आदेश होता है^१। लुकि न स्थानिवत्—लुक् होने में स्थानिवद्भाव न हो। [जैसे—] पञ्चपटु । यहां तद्धित प्रत्यय का लुक् होने से ङीप् प्रत्यय के ईकार का लुक् हुआ है। उसके स्थानिवत् नहीं होने से पटु शब्द को यणादेश नहीं होता^२। उपधात्वे न स्थानिवत् । उपधा का कार्य करने में स्था-

१. हलि च (ना० १४०) सूत्र से प्राप्त होने वाला दीर्घत्व ।
२. इको यणचि (सन्धि० १०९) सूत्र से । ३. लोपो व्योर्वलि (भा० ६ । १ । ३१) सूत्र से प्राप्त होनेवाला यकार लोप । ४. लृज् + णिच् + क्विप् = 'लाव् इ क्विप्'—इस अवस्था में 'जेरनिटि' (भा० १७७) से णिलोप होता है । यदि यह स्थानिवत् हो जावे तो इकार के व्यवधान होने से 'ज्ङो श्रद्धनुनासिके च' (भा० ४५४) से प्राप्त ऊठ् न हो ।
५. पञ्चभि पट्यमि क्रीत = 'पञ्च भिस् + पटु ङीप् भिस्' इस अवस्था में 'तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च' (सा० १३१) से समास होकर 'अप्यर्धपूर्व-द्विगोलुङ्सशायाम् (अष्टा० ५ । १ । २८) से क्रीत अर्थ से उत्पन्न तद्धित प्रत्यय का लुक् होता है, उस के पश्चात् 'लुक् तद्धितलुकि' (भा० १ । २।४९) से ङीप् का लुक् हो जाता है । यदि ङीप् को स्थानिवत् हो तो पटु के उकार को 'इको यणचि' (सन्धि० १०९) से यणादेश प्राप्त होता है ।

निवद्भाव न हो । [जैसे—] पारिष्कीय । यहां परित्या शब्द से चातुरधिक अण प्रत्यय के परे आकार क स्थानिवत् नहीं होने से पारिख शब्द से खोपध छ प्रत्यय हां जाता है^१ । चरूपरानिहांसे न स्थानिवत्—जहां चह प्रत्यय के परे हस्य का विधान हो वहां स्थानिवत् न हो । जैसे—अवीवदत् । यहां णिच् के परे णिच् का लोप हुआ है, उसके स्थानिवत् नहीं होने में टण्धा को हस्य हां जाता है^२ । कुत्चे न स्थानिवत्—कुत्प्रविधि करने में स्थानिवद्भाव न हो । जैसे—अर्च । यहां अर्च धातु में चर् प्रत्यय के परे णिच् प्रत्यय का लोप हुआ है, उसके स्थानिवत् नहीं होने से चकार को,

फकारादेश हो जाता है ।

६५-चा-पूर्वत्राऽसिद्धे च ॥ महा० १।१।७२॥

इस ताँसे वार्तिक से अष्टाध्यायी के अन्त्य के तीन पादों के फाये करने में स्थानिवद्भाव न हो । जैसे—यायष्टिः । यहाँ यङ् प्रत्यय के अकार का लोप हुआ है, उसका स्थानिवत् होने से यज धातु के जकार को पकारादेश नहीं प्राप्त होता था,^१ इत्यादि ।

६६-द्विवचनेऽचि ॥ १।१।७३॥

द्विवचननिमित्तक अजादि प्रत्यय परे हो तो द्विवचन करने के लिये अच् के स्थान में जो आदेश है वह स्थानिरूप ही हो जावे । इस सूत्र में स्थानियद्भाव का विधान है, अर्थात् निषेध की अनुमति नहीं आती । इसी से यह भी अतिदेश हुआ । अतिदेश दो प्रकार के होते हैं—एक कार्यातिदेश और रूपातिदेश । कार्यातिदेश वह होता है कि जो आदेश को स्थानी के सदृश मानकर स्थानी का काम आदेश से ले लेना । और रूपातिदेश उसको कहते हैं कि स्थानी अपने स्थान में खरं आजावे, क्योंकि जहाँ स्थानी के समान आदेश को मानने से काम नहीं चलता, वहाँ रूपातिदेश माना जाता है । सो इस सूत्र में रूपातिदेश है । जैसे—यपतुः ।

१. अर्क + णिच् + घञ्—इस अवस्था में 'जेरनिटि' (आ० १७७) से णिलोप और 'चजोः कु घिण्यतो.' (आ० ९४४) से घित् पर रहने पर कुत्व होता है । यदि णिलोप स्थानिवत् हो तो उसका व्यवधान होने से कुत्व नहीं हो सकता । २ यज् + यङ् = यायज् + य + क्तिन्—इस अवस्था में 'अतो लोप' (आ० १७२) से अकार लोप और 'लोपो ष्योर्बलि' (अष्टा० ६।१।६६) से यकारलोप होता है । यदि अकार लोप स्थानिवत् हो तो 'प्रश्नप्रसज ०' (आ० २३३) से सल्पर होने वाला पकारादेश न हो ।

यहां अतुस प्रत्यय के परे धातु के आकार का लोप हुआ है, 'उसके स्थानिवत् होने से ही द्विवचन हो सकता है'। यहां 'द्विवचन' ग्रहण इसलिये है कि 'गोदः' यहां आकार का लोप अजादि प्रत्यय के परे हुआ है, परन्तु द्विवचननिमित्तक प्रत्यय नहीं [है] इससे स्थानिवद्भाव नहीं होता। और 'अच्' ग्रहण इस लिये है कि 'देर्भायते' यहां अजादि प्रत्यय परे नहीं [है] इससे स्थानिवत् नहीं होता।

६७--प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम् ॥ १। १। ७६॥

जहां प्रत्यय का लोप हो जावे, वहां उस प्रत्यय को मानकर कोई कार्य प्राप्त होवे तो हो जाय। जैसे-अभिचित्। यहां लोप के 'बलवान् होने' से क्प् प्रत्यय का लोप प्रथम ही हो जाता है, पीछे उसको मान कर तुक् का आगम * होता है। इस सूत्र में 'प्रत्यय' ग्रहण इसलिये है कि जहां सम्पूर्ण प्रत्यय का लोप हो वहीं प्रत्यय निमित्तक कार्य हो और जहां प्रत्यय के अवयव का लोप हो वहां न हो। जैसे-आघ्नीत। यहां प्रत्यय के अवयव सकार का लोप हुआ है सो जो प्रत्यय लक्षण होवे तो हन् धातु की उपधा का लोप नहीं प्राप्त होवे*। दूसरा 'प्रत्यय' ग्रहण इसलिये है कि

१. आतो लोप इटि च (आ० २४३) सूत्र से। २. लिटि धातोरनभ्यासस्य (आ० ३८) सूत्र में 'एकाचः' की अनुवृत्ति है, अतः एकाच् होने पर ही द्विवचन हो सकता है। आकार लोप हो जाने पर एकाच्त्व का अभाव हो जाता है। ३. सर्वविधिभ्यो लोपविधिर्बलीयान् (पारि० ९९) इस नियम से। ४. ह्रस्वस्य पिति कृति मुक् (सन्धि २०६) सूत्र से। ५. 'आ+हन्+सीयट्+त' इस अवस्था में 'लिटः सलोपोऽनन्वयस्य' (आ० ८०) से सकार लोप होता है। 'गमदेमंजन०' (आ० २१४) से अजादि क्त्वि हित् प्रत्यय परे उपधा का लोप होता

प्रत्यय के लोप में [प्रत्यय को मानकर होने वाला कार्य ही हो] वर्णाश्रय, कार्य प्राप्त होता हो सो न हो। जैसे-रायः कुलम् = रेकुलम्। यहां प्रत्यय के लोप में एच् प्रत्याहार के आश्रय ऐकार को आय् आदेश प्राप्त है ^१ सो नहीं हुआ।

६८--न लुमताद्भस्य ॥ १।१।७७ ॥

जहां लुक्, रलु और लुप् इन शब्दों से प्रत्यय का अवदर्शन हुआ हो वहां उस प्रत्यय के परे जिसकी अङ्ग संज्ञा हो उसको प्रत्ययलक्षण मानकर कार्य न हो। पूर्वसूत्र में जो प्रत्ययलक्षण कार्य सामान्य से कहा है उसका इस सूत्र से विशेष विषय में निषेध करते हैं। जैसे-गर्गाः। यहां यञ् प्रत्यय को मानकर वृद्धि और आनुदात्त स्वर प्राप्त है ^२ सो नहीं होते। इस सूत्र में 'लुमता' ग्रहण इसलिये है कि 'धार्यते' यहां णिच् प्रत्यय का लोप हुआ है ^३ इससे प्रत्ययनिमित्तक कार्य जो वृद्धि है उसका निषेध नहीं होता।

६९--तस्मिन्नाति निर्दिष्टे पूर्वस्य ॥ १।१।८० ॥

जो शब्द सप्तमी विभक्ति से निर्दिष्ट = पदा हो उससे जो पूर्व शब्द वा वर्ण हो उसी को कार्य हो, अर्थात् उससे परे और व्यवधानवाले को न होवे। इस सूत्र में इति शब्द अर्थ का बोध

है। यदि सीयुट् की सलादि माना जाय तो उपधा लोप न हो।

१, एचोऽयवावावः (सन्धि० १८०) सूत्र से। २, गर्गा के बहुत अपत्य इस अर्थ में 'गर्गादिभ्यो यञ्' (खै० १८२) से यञ् प्रत्यय, और 'यञञोश्च' (अ० २।४।१४) से यञ् का लुक्। यञ् को प्रत्ययलक्षण मान कर 'तद्धितेष्वचामादे' (खै० ९१४) वृद्धि और 'ञित्यादिर्नित्यम्' (सी० २९) से आद्युदात्त स्वर की प्राप्ति होती है।

३, णेरनिटि (भा० १७७) से नि लोप होता है, उस को प्रत्यय लक्षण मानकर 'अचोऽङ्घ्रिति' (भा० ९०) से वृद्धि होती है।

होने के लिये पढ़ा है, अन्यथा 'तस्मिन्' यही शब्द जहां पढ़ते वही पूर्व का काये होता। जैसे-दधि-अत्र। यहां अकार सप्तर्मानिदिष्ट है। उससे पूर्व जो इकार है उसी को काये होता है। इसमें 'निदिष्ट' ग्रहण इसलिये है कि व्यवधान में यणादेश न हो। जैसे-समिधः। यहां धकार [के] व्यवधान में यण नहीं हाता।

१००—तस्मादित्युत्तरस्य ॥ १ । १ । ८१ ॥

जो पञ्चमी विभक्ति से निर्देश किया काये है वह व्यवधान-रहित पर के स्थान में हो। पूर्वसूत्र से यहां निदिष्टशब्द की अनुवृत्ति आती है। 'इति' शब्द यहां भी पूर्वोक्त प्रयोजन के लिये है। जैसे-द्वीपम्। यहां 'द्वि' शब्द से पर अप् शब्द को ईकारादेश होता है^१। इस सूत्र में निदिष्टग्रहण का प्रयोजन यह है कि अत्यन्त समीपवाले को कार्य हो। अन्तर्दधाना आप-यहां अप् शब्द को ईकारादेश न होंगे^२। 'आदेः परस्य'^३ यह सूत्र लिख चुके हैं सो इसी का शेष है।

१०१—स्वं रूपं शब्दस्याशब्दसंज्ञा ॥ १ । १ । ८२ ॥

व्याकरण शास्त्र में शब्द का जो रूप है उसी का ग्रहण होवे, शब्द शास्त्र में जो संज्ञा है उसको छोड़ के, अर्थात् उसके पर्यायवाची और विशेष वाची का ग्रहण न हो। लोक में यह परम्परा है कि शब्द के उच्चारण से अर्थ की प्रतीति होती है। जैसे किसी ने

१. इको यणचि (सन्धि० १७९) सूत्र में 'अच्' सप्तमी निदिष्ट है।
२. द्व्यन्तरूपसर्गेभ्योऽप ईत् (सा० ३५२) से ईकारादेश होता है।
३. यहां 'अन्तर्' और 'आप.' के मध्य 'दधाना.' का व्यवधान होने से 'द्व्यन्तरूप०' (सा० ३५२) से ईकारादेश नहीं होता।
४. सन्धि० ८७।

किसी से कहा कि गौ लाया, तो चार पगवाली व्यक्तिविशेष को ल आता है, वैसे व्याकरण में शब्दों से कार्य कहे हैं, अर्थों से उनका होना तो कदापि संभव नहीं। जैसे अग्नि से कुछ कार्य कहा तो क्या अंगारों से वह काम हा सकता है ? इसलिये अग्नि के पर्यायवाची जितने शब्द हैं उन सब से वह कार्य प्राप्त होता था, इस दाप के निवारण के लिये इस सूत्र का आरम्भ किया है। जैसे-गौ शब्द का कोई कार्यविधान किया है ? वह उसके पर्यायवाची धेनु आदि शब्दों से और विशेषवाची कृष्णा आदि शब्दों से न हो। इस सूत्र में 'रूप' ग्रहण इसलिये है कि-शब्दों का सम्बन्धी जो अर्थ है उसका ग्रहण न होवे।

जा इस सूत्र पर चार कानिक हैं सो लिखते हैं—

१०२—वा०—सित्तिद्विशेषाणां वृत्ताद्यर्थम् ॥

महा० १।१।८२ ॥

सित् निर्देश करना चाहिये, अर्थात् जिन जिन शब्दों के विशेषवाची शब्दों का ग्रहण इष्ट है वहा वहा एक सकार अधिक पढ़कर एक नवीन संकेत करना चाहिये, जिससे वृत्त आदि शब्दों के विशेषवाची शब्दों का बोध होजावे। जैसे—'विभाषा वृत्तमृग०'। इत्यादि एक वचन प्रकरण में सामान्यवाची वृत्त आदि शब्दों के ग्रहण में विशेषवाची न्यग्रोध आदि का भी ग्रहण होता है। प्लक्षन्यग्रोधम्, प्लक्षन्यग्रोधा, इत्यादि।

१०३—वा०—पित्पर्यायवचनस्य च स्वाद्यर्थम्

॥ महा० १।१।८२ ॥

१. अग्निदंक् (अ० ४।२।३३) से दक् प्रत्यय का विधान किया है। २. गोतो जित् (ना० १०८) से सर्वनामस्थान को निदधत् कहा है। ३. सा० ३११।

जिन शब्दों के पर्यायवाची शब्दों और उनके विशेषवाची शब्दों का ग्रहण और अपने रूप का ग्रहण इष्ट है वहां-वहां पित्संवेत करना चाहिये । जैसे—‘स्वे पुषः’^१—स्वपोषं पुष्याति । यहां अपने स्वरूप का ग्रहण है । रैषापं पुष्यति, धनपोषं पुष्यति । यहां स्वशब्द के पर्यायवाची ‘रै’ आदि हैं । अश्वपोषम्, गोपोषम् । यहां अश्व आदि शब्द उसके विशेषवाची हैं ।

१०४—वा०—जित्पर्यायवचनस्यैव राजाद्यर्थम् ॥

महा० १ । १ । ८२ ॥

जिन राजादि शब्दों के पर्यायवाचियों का ही ग्रहण इष्ट है वहां-वहां जित्संवेत करना चाहिये । इस वार्तिक से ‘सभा राजामनुष्यपूर्वा’^२ इस सूत्र में राजन् शब्द के पर्यायवाचियों का ही ग्रहण होता है । इनसभम्, इश्वरसभम् । ये राजन् शब्द के पर्यायवाची हैं । और राजन् शब्द का ग्रहण नहीं होता—राज-सभा । और राजन् शब्द के विशेषवाचियों का भी ग्रहण नहीं होता । जैसे—चन्द्रगुप्तसभा, पुष्पमित्रसभा इत्यादि ।

१०५—वा०—भित्तस्य च तद्विशेषाणां च मत्स्याद्यर्थम् ॥

महा० १ । १ । ८२ ॥

जिन मत्स्यादि शब्दों के विशेषवाचियों और उनके स्वरूप का ग्रहण इष्ट है वहां भित्तसंकेत करना चाहिये । इस वार्तिक में ‘पक्षि-मत्स्यमृगान् हन्ति’^३ इस सूत्र में मत्स्य शब्द से अपने स्वरूप और उसके विशेषवाची शब्दों का ग्रहण होना इष्ट है । जैसे—मत्स्यान् हन्ति मात्सरः । यहां स्वरूप का ग्रहण । और उसके विशेष-

वाची—शाफरिः, शाकुलिक, इत्यादि । पर्यायवाची अजिह्वा
आदि शब्दों का प्रहण नहीं होता, परन्तु एक पर्यायवाची का भी
प्रहण इष्ट है । मीनान् हन्ति मैत्रिक ।

१०६—अणुदित् सवर्णस्य चाऽप्रत्ययः ॥

१ । १ । ८३ ॥

अणु प्रत्याहार और उदिन् ये दोनों अपने सवर्णों के प्रहण
करने वाले हों, अर्थात् इनको जो कार्यविधान किया हो वह इनके
सवर्णियों को भी हो, परन्तु प्रत्यय सङ्गक अणु सवर्ण का प्राहक न
हो । पूरे सूत्र से 'स्व रूप' इन दो शब्दों की अनुवृत्ति आती है ।
अणु प्रत्याहार इस सूत्र में पर एकार से लिया जाता है । और
उदित् करके कु, चु, डु, तु, पु, ये पांच अक्षर लिये जाते हैं । जैसे—
'अस्य चयौ' यहा अकार को कार्य कहा है तो आकार को भी होता
है, तथा उदित् 'चुट्ट' यहा चवर्ग टवर्ग का 'अदकुप्वा'० यहा
कु, पु शब्दों से कवर्ग पवर्ग का प्रहण होता है । इस सूत्र में 'प्रत्यय'
का निषेध इसलिये है कि—अ, उ इन प्रत्ययों में वार्ध वर्णों का
प्रहण न हो ।

१०७—तपरस्तत्कालस्य ॥ १ । १ । ८४ ॥

जिससे तकार परे हो वा जो वर्ण तकार से परे आवे वह उतने
ही काल वाले सवर्णसङ्गक वर्ण और अपने रूप का बोधक हो,
अर्थात् तपर ह्रस्व वर्ण को कार्यविधान किया हो तो दीर्घ और

१ अ० ७, १ । ३२ ॥ २ जैसे 'शुक्ली भवति' में ईकारादेश
होता है वैसे—'मृद्वी भवति, माली भवति' में भी हो जाता है ।
३ मा० १७, आ० ३२ । ४ ना० २५, आ० ८७१ । ५ अ
प्रत्ययान् । आ० १७६१ । ६ सनादासमिश्र उ । आ० १३०० ।

प्लुत को न हो। जैसे—‘अत्’ यहां दीर्घ आकार का ग्रहण नहीं होता, क्योंकि उसके उच्चारण में द्विगुण काल लगता है। तथा जहां-जहां सत्रों में आकार तपर^२ पड़ा है उसका प्रयोजन यह है कि—उदात्त अनुदात्त और स्वरित का भी ग्रहण हो, क्योंकि उदात्तादिकों में कालभेद नहीं होता। ह्रस्व स्वरों में पूर्व सूत्र से सामान्य करके सबर्ण ग्रहण प्राप्त था सो इस सूत्र से ह्रस्व तपर स्वरों में अधिक कालवाले दीर्घ प्लुत का निषेध कर दिया है, तथा पूर्वसूत्र से दीर्घ स्वरों में सबर्ण ग्रहण प्राप्त नहीं था सो इस सूत्र से तत्काल के ग्रहण में उदात्तादि विशेष गुणों का भी ग्रहण हो जाता है।

१०८—येन विधिस्तदन्तस्य ॥ १।१।८६ ॥

जिस विशेषण करके विधि हा वह जिसके अन्त में हो उसको कार्य हो। जैसे—‘अचो यत्’ यहां ‘अच’ यह पद धातु का विशेषण होने से अन्त शब्द का लाभ करके जो अच् को कार्यविधान है सो अजन्त को होता है। भव्यम्, इत्यादि।

१०९—वा०—समासप्रत्ययविधौ प्रतिषेधः ॥

महा० १।१।८६ ॥

समासविधान और प्रत्ययविधान में तदन्तविधि न हो। समासविधान में—जैसे—कष्टश्रितः। यहां तो समास होता है^१ और ‘परमकष्टं श्रित’ यहां तदन्त का समास नहीं होता। प्रत्ययविधि—नङ-स्यापत्यं नाडायनः। यहां तो प्रत्ययविधान होता है^२ और ‘सूत्रनङ-

१ अदेङ् गुण (सन्धि० १९) सूत्र से अकार की गुण सञ्जा होती है, आकार का नहीं। २. वृद्धिरादैच् (सन्धि० १८) आदि सूत्रों में। ३ आ० ९२१। ४. द्वितीया श्रितातीनपनितगता० (सा० ७५) सूत्र से। ५. नडादिभ्य फक् (स्त्री० १०९) सूत्र से।

स्यापत्यं सोत्रनाडिः' यहां तदन्त से फक् प्रत्यय नहीं हुआ, इत्यादि ।

११०—वा०—उगिद् वर्णग्रहणवर्जम् ॥

महा० १ । १ । ८६ ॥

पूर्व वार्तिक से जो निषेध किया है सो प्रत्ययविधि में सर्वत्र नहीं लगता, अर्थात् उगिद् ग्रहण और वर्ण ग्रहण को छोड़ के [निषेध प्रवृत्त होता है] । जैसे—भवती । यहां उदिद् भवत् शब्द से स्त्रीप् प्रत्यय होता है' तो 'अतिभवती' यहां तदन्त से भी हो जावे । वर्णग्रहण—'अत इञ्' [अस्यापत्यमि । यहां अ शब्द से इञ् प्रत्यय होता है, इस वार्तिक से] 'दातिः' इत्यादि में अदन्त से भी प्रत्यय-विधान होता है ।

१११—अचश्च ॥ १ । २ । २८ ॥

जहां-जहां व्याकरण शास्त्र में ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत [का] विधान करें वहाँ वहां अच् ही के स्थान में हों । जैसे—हरयो नपुंसके प्रातिपदिकस्य' यहां प्रातिपदिक हो ह्रस्व कहा है, जैसे—रै—अतिरि । यहां ऐकार को इकार और 'अधिन' यहां औकार को उकार होता है । यहां 'अच्' ग्रहण इसलिये है कि 'सुवाग् ब्राह्मणकुनम्' इत्यादि प्रयोगों में ह्रलन्त को ह्रस्व न हो । दीर्घ—अठुत्सार्यधातुकयोर्दीर्घः' स्तु, ध्रु—स्तूयते, श्रूयते । यहां उकार के स्थान में ऊकार दीर्घ हुआ है । अच् का नियम इसलिये है कि 'अग्निचीश्त्' यहां तकार के स्थान में प्लुत २ न हो जावे' । परन्तु जहां संज्ञा शब्दों से ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत का विधान हो वही अच् के स्थान में हो । यह नियम

१. उगितश्च (सूत्र० २३) सूत्र से । २. सूत्र० १७१ । ३. ना० ४७ ।

४. भा० १६० । ५. दूराद्भूते च (सन्धि० २९) सूत्र से ।

इसलिये है कि 'त्यद्दीनामः' यहा अकारादेश कहा है, और अकार की हल् संज्ञा है सो यहा अच् की अपेक्षा न हो, इत्यादि ।

११२—यथासंख्यमनुदेशः समानाम् ॥ १।३।१० ॥

जहां-जहां बराबर संख्यावालों का कार्य में सम्बन्ध करना हो वहां-वहां यथासंख्य अथात् जैसा उनका क्रम पड़ा हो वैसा ही सम्बन्ध किया जावे । जैसे—'एचोऽयवायायः' ^१ यहां एच् प्रत्याहार में [ए, ओ, ऐ, औ] चार वर्ण हैं सो ही अय्, अव, आय्, आय्, ये चार आदेश हैं सो प्रथम के स्थान में प्रथम, द्वितीय के स्थान में द्वितीय, तृतीय के स्थान में तृतीय और चतुर्थ के स्थान में चतुर्थ होते हैं । इसी प्रकार सर्वत्र यह नियम जान लेना । यहां 'समानाम्' प्रहण इसलिये है कि—'लक्षणेत्थम्भूताद्यानभागीप्सास्तु प्रतिपर्यनय' ^२ यहा चार अर्थ और तीन उपसर्ग हैं, इससे यथासंख्य क्रम नहीं लगता, इत्यादि ।

११३—स्वरितेनाऽधिकारः । १।३।११ ॥

उस स्वरित के चिन्ह से अधिकार का बोध करना चाहिये जो अक्षर के ऊपर खड़ी रेखा लगाते हैं । वह स्वरित वर्ण का धर्म होता है । जैसे—प्रत्ययः^३, धातोः^४, कर्मण्यण्^५, इत्यादि । अब जिसके ऊपर स्वरित का चिन्ह किया हो वह अधिकार कहा तक जावेगा यह यात उस-उस के विशेष व्याख्यान से जानना ।

११४—विप्रतिपेधे परं कार्यम् ॥ १।४।२ ॥

विप्रतिपेध में पर को कार्य होना चाहिये । इतरेतरप्रतिपेधो विप्रतिपेधः । जो परस्पर एक दूसरे का रोकना है वह विप्रतिपेध कहाता है ।

द्वौ प्रसंगौ यदान्यार्थो भवत एकस्मिंश्च युगपत् प्राप्नुत स वि-
प्रतिषेधः । जो पृथक्-पृथक् प्रयाजन वाले दो कार्य एक विषय में एक
काल में प्राप्त होते हैं उसको विप्रतिषेध कहत हैं । जैसे—वृक्षाभ्याम् ।
यहा 'सुपि च' इससे दार्घ्य होता है, और 'वृत्तेषु' यहा 'बहुवचने
भक्त्येत्' इससे एकारादेश होता है । ये तो इनके पृथक् प्रथक् प्रयो-
जन हैं, परन्तु 'वृत्तेभ्य' यहा जो दो सूत्रों की प्राप्ति एक काल में होकर
वृक्ष शब्द को दीर्घ और एकारादेश दोनों ही प्राप्त होत हैं इसका न्याय
इस परिभाषा सूत्र से किया है कि पर का कार्य एकारादेश हो जावे
और पूर्वसूत्र का कार्य दीर्घादेश न हो, इत्यादि असंख्य प्रयोजन हैं ।

११५—अन्तादिवच्च ॥ ६ । १ । ८४ ॥

जा पूर्व पर के स्थान में एकादेश विधान किया है सो पूर्व का
अन्त अवयव और पर का आदि अवयव समझना चाहिये । पूर्व,
पर और एक शब्द की अनुवृत्ति इसके पूर्व सूत्र से आती है । इसके
प्रयोजन—जैसे पूर्व का अन्तवत्—ब्रह्मबन्धू । यहा उकारान्त शब्द
से ऊङ् प्रत्यय होता है ४ । उकारान्त तो प्रातिपदिक [है] और
प्रत्यय का उकार अप्रातिपदिक है इन दोनों उकारों का एकादेश
प्रातिपदिक के ग्रहण करके गृहीत होन से स्वादि प्रत्ययों की उत्पत्ति
होती है अन्यथा नहीं हो सकती, इत्यादि । पर का आदिवत्—अग्नी
इति, वायु इति । यहा इकार, उकार और औकार का एकादेश ५
हुआ है सो द्विवचन औकार की आदिवत् होन से ही प्रगृह्य सहा ६
हो सकती है, अन्यथा नहीं हो सकती थी, इत्यादि ।

११६—पत्वतुकोरसिद्धः ॥ ६ । १ । ८५ ॥

१ ना० २६ । २ ना० ३० । ३ एक पूर्वपरयो (सन्धि० १२९)
सूत्र से । ४ ऊटुत (स्त्री० १२४) सूत्र से । ५, प्रथमयो पूर्वसवर्ण
(ना० १९) सूत्र से । ६ इदृदृ द्विवचन प्रगृह्यम (सन्धि० ६४) सूत्र से ।

जो पत्र और तुक्विधि के काने में पूर्व पर के स्थान में एकादेश है वह असिद्ध हो जाता है। जैसे—पत्र—कोऽभिचात् । यहाँ अकार को पूर्वरूप एकादेश हुआ है, उसको पत्रविधि करने में असिद्ध मान के पत्र नहीं होता, इत्यादि। तुक्विधि—अधीत्य, परीत्य । यहाँ मघर्णदीर्घ एकादेश को असिद्ध मानकर हुन्व से परे तुक् का आगम होता है, इत्यादि।

११७-चा०-संप्रसारणडीट्सु सिद्धः ॥

महा० १।१।८५ ॥

परन्तु जहाँ संप्रसारण, छि विभक्ति और इट् प्रत्यय के साथ एकादेश हुआ हो तो यहाँ पत्र और तुक्विधि करने में एकादेश सिद्ध ही माना जाये। क्योंकि [पूर्व] सूत्र से [सिद्धत्व का] निषेध प्राप्त था, उसी प्रतिषेध का यह प्रतिषेध है। जैसे संप्रसारण-शकडूपु। यहाँ शकपूर्वक 'हेच्' धातु से किल् के परे संप्रसारण को पूर्वरूप एकादेश हुआ है, उसको असिद्ध मानने से सप्तमी विभक्ति के सकार को पत्र नहीं पाता था इससे होगया। छि-युक्ते द्वित्र्य,

१. एट्: पदान्तादिति (सन्धि० ११०) सूत्र से। २. आदेशप्रत्यययोः (भा० ३४, भा० ५६) सूत्र से। ३. अधि+इत्य, परि+इत्य 'अकः सवर्णे दीर्घः' (सन्धि० १३०) सूत्र से। ४. ह्रस्वस्यपिनि कृति तुक् (सन्धि० २०६) सूत्र से। ५. द्वेभ्य-आदेश उपदेशोऽस्ति (भा० ३४२) से भात्त। ह्रा+जिप्-वचिस्वपियजार्दीनां किति (भा० २८३) से संप्रसारण-इ ट् भा। ६. इ ट् आ-संप्रसारणाच्च (सन्धि० १५९) से एकादेश-हु, इलः (भा० ४५१) से दीर्घ-हु। ७. आदेशप्रत्यययोः (भा० ३४, भा० ५६) सूत्र से प्राप्त। ८. एकादेश असिद्ध होने पर 'उ+आ' ऐसी अवस्था होती, उस में सुप् का सकार इण् कवर्ग से उत्तर नहीं रहता, किंच न 'आ' अव्ययधान हो जाता है।

वृत्तेच्छग्रम् । यहां वृत्त शब्द का हि विभक्ति के इकार के साथ एकादेश' हुआ है, जो उसको असिद्ध मानें तो पूर्ववत् नित्य तुक् पाता है, 'पदान्ताद्धा' ^३ से विकल्प इष्ट है, सो हो गया इत्यादि ।

११८-पूर्वत्राऽसिद्धम् ॥ ८ । २ । १ ॥

जो कार्य यहां से पूर्व सपादसमाध्यायी अर्थात् एक पाद और सात अध्याय में जितना शब्दकायें कहा है वहां सर्वत्र त्रिपादी का किया कार्य असिद्ध माना जावे, और त्रिपादी में भी पूर्व-पूर्व के प्रति पर-पर सूत्र का कार्य असिद्ध माना जाय । जैसे-पादा उच्येते । यहां 'लोपः शाकल्यस्य' इस सूत्र से अवर्णपूर्व^१ वकार का लोप हुआ है, उसको असिद्ध मानकर गुण एकादेशरूप^२ सन्धि नहीं होती । अग्न आयाहि । यहां भी अवर्णपूर्व^३ यकार का लोप^४ होने से उसको असिद्ध मानकर सवर्ण दीर्घ^५ नहीं हांता, इत्यादि । त्रिपादी में-गोधुङ्मान् । यहां दुह धातु के इकार को चकार,^६ चकार को

१. आद् गुणः (सन्धि० १३३) सूत्र से । २. एकादेश को असिद्ध मानने पर पूर्ववत् अर्थात् जैसे 'अधीत्य' में नित्य तुक् होता है वैसे 'वृक्ष+इ' इस अपत्यमें 'छे च' (सन्धि० २०८) से नित्य तुक् प्राप्त होता है । ३. सन्धि० २११ । ४. सन्धि० २५१ । ५. यहां 'अवर्ण' है पूर्ण में जिस के' ऐसा बहुव्रीहि समास समझना चाहिये । ६. आद् गुणः (सन्धि० १३३) से प्राप्त । ७. यहां भी पूर्ववत् बहुव्रीहि समास है । ८. लोपः शाकल्यस्य (सन्धि० २५१) सूत्र से । ९. अक-सवर्ण दीर्घः (सन्धि० १३०) सूत्र से । १०. दादर्धातोर्घः (आ० ३११) सूत्र से ।

गकार^१ और गकार को ङकार^२ और दकार को घकार^३ होता है। इस सब को असिद्ध मानकर मतुप् के मकार को वकारादेश^४ नहीं होता, इत्यादि।

२१६-नलोपः सुप्स्वरसंज्ञातुग्वधिषु कृति ॥८॥२॥

परन्तु प्रातिपदिकान्त मकार का जो लोप होता है वह सुप्, स्वर, संज्ञा और कृत्सम्बन्धी तुष्विधि इन्हीं विधियों के करने में असिद्ध माना जावे। सुप्विधि में दो प्रकार का समास होता है—सुप् के स्थान में जो विधि और सुप् के परे जो विधि। जैसे—सुप् के स्थान में जो विधि—राजभिः, तक्षभिः। यहां राजन्, तक्षन् शब्द के नकार का लोप^५ हुआ है उसको असिद्ध न मानें तो भिस् विभक्ति को ऐस्^६ आदेश हो ही जावे, सो इष्ट नहीं है। तथा सुप् के परे जो विधि—राजभ्याम्, तक्षभ्याम्। यहां नलोप को असिद्ध मानने से विभक्ति के परे दीर्घ^७ नहीं होता। स्वरविधि—पञ्चामेम्, सप्तार्थम्। यहां पथ्वन् और सप्तन् शब्द के नकार का लोप हुआ है उसको असिद्ध मानकर 'अमे चाऽवर्णे द्वयच् ज्यच्' इस स्वरविधायक सूत्र से [जो] अवर्णान्त पूर्वपद को आशुदात्त स्वर प्राप्त है सो नहीं होता, क्योंकि नलोप के असिद्ध मानने से अवर्णान्त ही नहीं। संज्ञाविधि—पञ्चभिः, सप्तभिः। यहां पथ्वन् और सप्तन् शब्द के

१. ङाजशोऽन्ते (सन्धि० १९०) सूत्र से। २. यरोऽनुनासिके प्रत्ययभापाया नित्ययचनम् (सन्धि० २२०) वार्तिक से। ३. एकाचो यशो भप् सपन्तस्य रुचोः (भा० २०४) सूत्र से। ४. यहां 'क्षयः' (सं० ६०४) से प्राप्त वकारादेश घत्व और जडत्व के असिद्ध होने से नहीं होता। ५. नलोप. प्रातिपदिकान्तस्य (ना० ६०) सूत्र से। ६. अतो भिस् ऐस् (ना० २०) सूत्र से प्राप्त। ७. सुप् च (ना० २६) से प्राप्त। ८. भ० ६।२।९० ॥

नकार का लोप हुआ है उसको असिद्ध मानकर पटसंज्ञा ' होती और तदाश्रय पटसंज्ञा के कार्य^२ भी होते हैं । तुक्विधि-
ब्रह्महभ्याम्, ब्रह्महभिः । यहा नलोप को असिद्ध मानकर जो कृत
के आश्रय से तुक्^३ प्राप्त है सो नहीं होता । यहा 'कृद्' प्रदण
। इसलिये है कि 'ब्रह्महच्छत्रम्' यहा जो छकाराश्रय तुगागम^४ है
सो हो जावे, इत्यादि ।

(प्र०) "पूर्यत्राऽसिद्धम्" इस उक्त सूत्र से ही त्रिपादी के
सब कार्य असिद्ध हो जात, फिर यह सूत्र किस लिये किया ?

(उ०) यह सूत्र नियमार्थ है कि इतने ही विधियों के करने
में नकार का लोप असिद्ध माना जावे अन्यत्र नहीं । इससे
'राजीयति' यहा ईकारादेश अवर्णान्त^५ मानकर हो जाता है, इत्यादि ।

१ नकारान्त सध्यावाची शब्द की 'ष्णान्ता पट्' (ना० १३६)
सूत्र से पट् सज्ञा होती है । २, वेद में 'श्रत्युपोत्तमम्' (अ० ६ । १ ।
१०६) सूत्र से नित्य और 'विभाषा भाषायाम्' (अ० ६ । १ ।
१०७) से भाषा में विकल्प करक उपोत्तम अर्थात् अन्त्य से पूर्व को
उदात्त होता है । ३ ह्रस्वस्य पिति कृति तुक् (सन्धि० २०६) सूत्र
से । ४ बृत्रहच्छत्रम्—यहा 'ह्रस्वस्य पिति० (सन्धि० २०६) सूत्र
से प्राप्त कृदाश्रय तुक्विधि में नलोप के असिद्ध होने से 'बृत्रह' शब्द
ह्रस्वान्त नहीं रहता, नकारान्त हो जाता है । परन्तु 'छे च' (सन्धि०
२०८) सूत्र से प्राप्त तुक्विधि में नलोप असिद्ध नहीं होता, अर्थात्
सिद्ध रहता है । अतः 'बृत्रह' शब्द को ह्रस्वान्त मानकर 'छे च' सूत्र
से तुक् हो जाता है । ५ 'राजीयति'—राजन् + क्यच् + तिप् । न क्ये
(आ० ५६३) से पद सज्ञा होकर 'नलोप प्रातिपदिकान्तस्य' (ना०
६७) से नकार का लोप होता है । नलोप सुपस्वर० (सन्धि०
११९) सूत्र के नियमार्थ होने से यहा असिद्ध नहीं होता, और राज
शब्द को अवर्णान्त मानकर 'क्यचि च' (आ० ५६२) सूत्र से ईकारा-
देश हो जाता है ।

१२०—न मु ने ॥ ८ । २ । ३ ॥

नाभाव करने में मुभाव असिद्ध नहीं होता अर्थात् सिद्ध ही माना जाता है। जैसे—अमुना। यहा अदस शब्द के दकार को मकार और अकार को उकारादेश त्रिपादी में^१ होता है उसको असिद्ध नहीं मानने [अर्थात् उकारान्त मानने] से घिसक्षक^२ से परे टा विभक्ति को ना आदेश^३ हो जाता है, नाभाव कर लेने के पीछे जो मुभाव को असिद्ध मानें तो अदन्त अङ्ग को दीर्घ^४ प्राप्त होता है, इसलिये ऐसा अर्थ करना कि 'नाभाव के करने में और करने के पश्चात् भी मुभाव सिद्ध ही माना जावे' इत्यादि।

१२१—चा०—संयोगान्तलोपो रोरुत्वे ॥ महा०

८ । २ । ६ ॥

यहा ह को उकारादेश करने में संयोगान्तलोप सिद्ध माना जाता है। जैसे—हरिवो मेदिन त्वा। यहा जो 'हरिवन्त्' शब्द में संयोगान्त तकार का लोप असिद्ध माना जावे तो हश् के न होने से वत्त्व^५ प्राप्त नहीं होता, इत्यादि।

- १ अदसोऽमेदादु दो म (ना० १८८) सूत्र से।
- २ इत्य इकारान्त उकारान्त शब्द की 'क्षपो ध्यसलि' (ना० ५७) से घि सज्ञा होती है।
- ३ भाट्टो नाऽग्रियाम् (ना० ५८) सूत्र से।
- ४ मुपि च (ना० २६) सूत्र से।
- ५ 'हरिवन्त् मेदिनम्' इस अवस्था में 'संयोगान्तस्य लोप' (ना० ११२) से तलोप होकर 'मद्वयसोर सयुद्धौ छन्दसि' (अ० ८ । ३ । १) से नकार को ह् भादश होता है। उकार की इसज्ञा और लोप होकर मकार पर रहने पर 'हसि च' (सन्धि० २५४) से उत्त्व होता है। यदि यहा तकार लोप को असिद्ध मानें तो 'र्' से परे हश् = मकार नहीं मिलता, बीच में तकार का व्यवधान होता है।

१२२-वा०-सिजलोप एकादेशे सिद्धो वक्तव्यः॥

महा० ८ । २ । ६ ॥

सवर्णदीर्घ एकादेश के करने में त्रिपादा में विहित सिच् प्रत्यय का लोप सिद्ध ही समझना चाहिये । जैसे—अलावात्, अपावात् । यद् इट् से परे सिच् के सकार का लोप ईट् के पर हुआ है, 'पश्चात्' उस सकार के लोप को असिद्ध मानें तो सवर्णोदाघ एकादेश ^१ नहीं पावे, इत्यादि ।

१२३-वा०-संयोगादिलोपः संयोगान्तलोपे ॥

महा० ८ । २ । ६ ॥

जो त्रिपादी में संयोगादि सकार ककार का लोप ^२ होता है वह संयोगान्त लोप ^३ करने में सिद्ध माना जावे । जैसे—काष्ठतट् । यद् संयोगादि ककार का लोप संयोगान्त लोप में सिद्ध मानने से संयोगान्त टकार का लोप नहीं होता इत्यादि ।

१२४-वा०-निष्ठादेशः पत्वस्वरप्रत्ययेषु-
विधिषु सिद्धो वक्तव्यः ॥ महा० ८ । २ । ६ ॥

जो निष्ठासङ्गक प्रत्ययों के स्थान में आदेश होत हैं वे पत्व, स्वर, प्रत्यय और इट्विधि के करने में सिद्ध मानने चाहिये । जैसे—पत्वविधि—वृक्ण, वृक्णवान् । यद् ओदित् धातु से परे निष्ठा के तकार को नकारादेश ^४ हुआ है उसको सिद्ध मानने से

१ इट् ईटि (भा० १३२) सूत्र से । २ अक सवर्ण दीर्घ (सन्धि० १३०) से प्राप्त । ३ एको संयोगाघोरन्ते च (भा० २१०) सूत्र से । ४ एको संयोगाघो० (भा० २१०) सूत्र से । ५ ओदितश्च (भा० ११५६) सूत्र से ।

‘प्रश्नभ्रजं०’^१ इस सूत्र से पत्व नहीं होता, इत्यादि ।
स्वरविधि—क्षीबः । यहाँ क्षीब धातु से निष्ठा के परे इत्मात्र का
लोप माना है^२ । (छाब्—इट्—क्त) इस अवस्था में निपातन से
इट् का इ और क्त का त् इस प्रकार इत् का लोप होकर क्त के
अ में य मिल के ‘क्षीबः’ बनता है, उसको सिद्ध मानके ‘निष्ठा च
द्वयजनात्’^३ इससे आनुदात्त स्वर हो जाता है । प्रत्ययविधि—
क्षीबेन सरति क्षीबक । यहाँ भी उस लोप के सिद्ध मानने से ही
द्वयच् लक्षण ठन्^४ प्रत्यय होता है । इट्विधि—क्षीबः । इसमें
जब तकार के लोप का निपातन^५ मानते हैं तब उसको सिद्ध
मानकर इट् नहीं होता ।

१२५—वा०—प्लुतिस्तुग्विधौ छे च ॥ महा०

८ । २ । ६ ॥

जो त्रिपाही में विधान किया हुआ प्लुत विकार^६ है उसे
छकार के परे तुक् विधि^७ करने में सिद्ध ही समझना चाहिये ।

१. आ० १३३ । २ अनुपसर्गात् पुल्लक्षीबकृशोष्ठाया (आ०
११७२) सूत्र से । ३. आ० ६ । २ । २०५ ॥ ४. नी द्वयघटन् (खै०
४५९) सूत्र से । ५. क्षीब शब्द के निपातन में दो पक्ष हैं ।
प्रथम—क्षीब धातु से परे क्त प्रत्यय को इट् का आगम करके
‘इत्’ शब्द का लोप । दूसरा—क्त प्रत्यय के ‘त्’ का लोप । प्रथम पक्ष
में स्वरविधि का उदाहरण है । द्वितीय पक्ष में तकार लोप को असिद्ध
मानकर ‘आर्धधातुवस्येड् बलादे’ (आ० ४६) सूत्र से इडागम
की प्राप्ति होती है । अतः इट्विधि में तकार लोप के सिद्धत्व का
विधान किया है । ६ पृथोऽप्रगृह्यस्यादूरादने० (सन्धि० ५२)
सूत्र से विहित प्लुतविषयक इ उ विकार । ७. छे च (सन्धि०
२०८) सूत्र से ।

जैसे-अप्पः३इच्छत्रम् । पटा३उच्छत्रम् । यद्वा प्लुत को सिद्ध मानकर तुक् का आगम हो जाता है ।

१२६--वा०-रचुत्व घुङ्विधौ ॥ महा० ८ ।

२ । ६ ॥

जो शकार चवर्गे के योग में सकार तवर्ग को शकार चवर्ग होते हैं उनको घुङ्विधि^१ में सिद्ध मानना चाहिये । जैसे-अट+श्च्योतति । यद्वा शकार को सिद्ध^२ मानने से 'इ सि घुट्'^३ इस सूत्र से घुट् का आगम नहीं होता ।

१२७--वा०-अभ्यासजश्त्वचर्त्त्वमेत्वतुकोः ॥

महा० ८ । २६ ॥

जो अभ्यास में क्लृप्त्तों को जश्त्व और चर्त्त्व^४ त्रिपादी में कहा है उसको एत्व और तुक् के करने में सिद्ध मानना चाहिये । जैसे-वभणुतु, वभणु । यद्वा अभ्यास के भकार का चकारादेश^५ हुआ है, उसको सिद्ध मानने से आदेशादि^६ धातु को एत्व नहीं होता । चर्त्त्व-वचिच्छिपति । यह 'वच्छी विवासे' धातु का प्रयोग है, इसके अभ्यास में चकारादेश^७ होता है, उसको असिद्ध मानने

१ स्तोत्रचुना श्चुः (सन्धि० २१३) सूत्र से । २ इ सि घुट् (सन्धि० २०३) सूत्र से । ३ श्च्युतिर् धरणे धातु वस्तुतः सकारादि 'श्च्युतिर्' है, चकार के योग में सकार को शकार हुआ है । यदि हमें असिद्ध मानकर सकार मानें तो घुट् की प्राप्ति होती है । अत एव इस धार्तिक से उसे सिद्धवत् माना है । ४ सन्धि० २०१ । ५ अभ्यासे चर्त्त्व (भा० ४३) सूत्र से । ६ अभ्यासे चर्त्त्व (भा० ४३) सूत्र से । ७ अत एकहस्मन्पेऽनादशादेर्लिटि (भा० १२५) सूत्र से । ८ अभ्यासे चर्त्त्व (भा० ४३) सूत्र से ।

से तुक्' पाता है सो सिद्ध मानकर न होवे ।

१२८—वा०—द्विर्वचने परसवर्णत्वम् ॥

महा० ८ । २ । ६ ॥

जहां-जहां 'अनचि च' करके द्विर्वचन करते हैं वहां-वहां परसवर्ण सिद्ध ही मानना चाहिये । जैसे सँय्यन्ता, सँवत्सरः, यल्ल्लोकम्, सल्ल्लोकम्, इत्यादि में अनुस्वार को परसवर्ण आदेश होता है उसको सिद्ध मानने से द्विर्वचन होता है इत्यादि ॥

॥ इति परिभाषाप्रकरण समाप्तम् ॥

१. असिद्ध अर्थात् छकार मानने पर 'छे च' (सन्धि० २०८) से तुक् पाता है । २. (सन्धि० २२२) ३. वा पदान्तस्य (सन्धि० १९८) सूत्र से । ४. अनचि च (सन्धि० २२२) सूत्र से ।

अथ साधनप्रकरणम्

१२६—एकः पूर्वपरयोः ॥ ६ । १ । ८३ ॥

यह अधिकार सूत्र है। यहां से आगे जो-जो कहेंगे वह सब पूर्व पर के स्थान में एकादेश समझना योग्य है।

१३०—अकः सवर्णे दीर्घः ॥ ६ । १ । ८६ ।

अक प्रत्याहार से सवर्ण अक्षर परे हा सा पूर्व पर के स्थान में सवर्ण दोषे एकादेश हो। अक् प्रत्याहार में पांच वर्ण लिये जाते हैं अ, इ, उ, ऋ, ए। इनकी परस्पर सन्धि दिखलाते हैं। अवर्ण में परस्पर चार प्रकार के सन्धि होते हैं। अ+अ, अ+आ, आ+अ, आ+आ। इन दो-दो का मिलके सवर्ण दीर्घ आकार हो जाता है। जैसे—परम+अर्थ=परमार्थ, वेद+आदि.=वेदादि, विद्या+अर्थी,=विद्यार्थी, विद्या+आनन्द.=विद्यानन्द। अन्य शब्दों में भी अवर्ण सन्धि इसी प्रकार के आवेंगे। इवर्ण में भी चार भेद हैं। इ+इ, इ+ई, ई+इ, ई+ई। जैसे—प्रति+इति.=प्रतीति, भूमि+ईश=भूमीश। मही—इन.=महीन, कुमार+ईहते=कुमारीहत। ऐसे उवर्ण का भी चार प्रकार का विषय है। जैसे—उ+उ, उ+ऊ, ऊ+उ, ऊ+ऊ। क्रम से उदाहरण—, विधु+उदय=विधूदय, मधु+उणो=मधूर्णो, चमू+उद्गम.=चमूद्गम। बधू+ऊति=बधूर्ति। अवर्ण के विषय में भी ऐसा

१. संस्कृतभाषा में 'सन्धि' शब्द 'व्यन्तो धु' (लिङ्गातुशासन ४१) नियम से पुंलिङ्ग है। इस ग्रन्थ में भी उसी नियम से पुंलिङ्ग मानकर व्यवहार किया है। आजकल हिन्दीभाषा में सन्धिशब्द स्त्रीलिङ्ग माना जाता है।

ही समझना, परन्तु लिखते भी हैं। पितृ+अणम्,—पितृणम्, इत्यादि। परन्तु अ ल दो वर्णों में इतना विशेष है—

१३१—वा०—अति अ वा वचनम् ॥

महा० ८।१।१९ ॥

ह्रस्व अकार से सवर्ण अकार के परे पूर्व पर के स्थान में विकल्प करके ह्रस्व अकार एकादेश होता [है,] और दूसरे पक्ष में दीर्घ एकादेश होता है। सूत्र से सवर्ण दीर्घ एकादेश प्राप्त है, इसलिये यह वार्तिक पढ़ा है। जैसे—होतृ+अकारः=होतृकारः। द्वितीय पक्ष में—होतृ+अकारः=होतृकारः।

१३२—वा०—लुति ल वा वचनम् ॥

महा० ८।१।१९ ॥

अकार लुकार के स्थान प्रयत्न एक नहीं हैं, इसलिये सवर्णसंज्ञा विषय में वार्तिक लिख चुके हैं। और अक प्रत्याहार में भी अ ल दोनों पदे हैं। अकार से ह्रस्व लुकार के परे पूर्व पर के स्थान में ह्रस्व लुकार एकादेश हो। जैसे—होतृ+लुकारः=होतृलुकारः। और जिस पक्ष में अकार लुकार को मिलके लुकार एकादेश नहीं होता वहां लुकार के दीर्घ नहीं होने से दीर्घ अकार एकादेश ही होजाता है। जैसे—होतृकारः। इन दोनों की परस्पर सवर्ण संज्ञा का फल भी यही है कि दोनों को मिलके एकादेश हो जावे।

१३३—आद् गुणः ॥ ६।१।८६ ॥

अवर्ण से अमवर्ण अच् परे हो तो पूर्व पर के स्थान में गुण एकादेश होता है। जैसे—अ+इ, अ+ई, अ+उ, अ+ऊ, अ+अ, आ+इ, आ+ई, आ+उ, आ+ऊ, आ+अ, यह दश प्रकार का गुण एकादेश होता है। क्रम से उदाहरण—अ+इदम्=अेदम्,

१. देखो पूर्व पृष्ठ ११। २. लवर्णस्य दीर्घा न सन्ति। वर्णों० प्र० ६।

परम + ईशः = परमेशः, सूर्य + उदयः = सूर्योदयः, शब्द + ऊहा = शब्दोहा, मन्त्र + ऋषिः = मन्त्रर्षिः । यहां अकार ऋकार के स्थान में 'उरण् रपरः' सूत्र से रपर अर्थात् अर आदेश हो गया है । कन्या + इयम् = कन्येयम्, महा + ईश्वरः = महेश्वरः, कृपा + उद्घाटनम् = कृपोद्घाटनम्, रत्न + ऊहः = रत्नोहः, महा + ऋषिः = महर्षिः । इसी प्रकार अन्य शब्दों में भी उदाहरण आनेगे ।

१३४-वृद्धिरोचि ॥ ६ । १ । ८७ ॥

अवर्ण से एच् प्रत्याहार परे हों तो पूर्व पर के स्थान में वृद्धि एकादेश हो जाय । यह सूत्र गुणादेश का अपवाद है । एच् प्रत्याहार में चार वर्ण आते हैं—ए, ऐ, ओ, औ । इन चार वर्णों के परे वृद्धि होती है । अ + ए, अ + ऐ, अ + ओ, अ + औ, आ + ए, आ + ऐ, आ + ओ, आ + औ । इसी रीति से आठ प्रकार की वृद्धि होती है । जैसे—मन्त्र + एकम् = मन्त्रैकम्, परम + ऐश्वर्यम् = परमैश्वर्यम्, गुह + ओदनः = गुहोदनः, परम + औपधम् = परमौपधम्, महा + ओजस्वी = महौजस्वी, क्षमा + एका = क्षमैका, विशा + ऐहि-की = विषैहिकी, खट्वा + औपगवः = खट्वौपगवः ।

अब इन गुण वृद्धि के विशेष अपवादरूप सूत्र लिखते हैं—

१३५-एत्येधत्यूट्सु ॥ ६ । १ । ८८ ॥

अवर्ण से एति, एधति और ऊट परे हों तो पूर्व पर के स्थान में वृद्धि एकादेश हो । यहां एति और एधति इन दो धातुओं के परे 'एङि पररूपम्' से पररूप एकादेश पाता था, इसलिये वृद्धि का आरम्भ किया है, और ऊट आदेश में गुण^१ पाता था उसका अपवाद है । उप + एति = उपैति, उप + एमि = उपैमि, अ + एधते =

प्रैधते, उप+एधते=उपैधते, ऊट्-प्रष्ठ+ऊहः=प्रष्ठौहः, प्रष्ठ+ऊहः=प्रष्ठौहः ।

१३६—वा०—अक्षादूहिण्याम् ॥

महा० ६।१।८८ ॥

अक्ष शब्द के आगे ऊहिनी शब्द हो तो पूर्व पर के स्थान में वृद्धि एकादेश होता है । जैसे—अक्ष+ऊहिनी=अक्षौहिणी । यहां गुण^१ एकादेश को बाधक वृद्धि है ।

१३७—वा०—प्रादूहोढोढ्येपैप्येषु ॥

महा० ६।१।८८ ॥

प्र उपसर्ग के आगे ऊह, ऊढ, ऊढि, एप और एष्य शब्द हों तो पूर्व पर के स्थान में वृद्धि एकादेश होता है । जैसे—प्र+ऊहः+प्रौहः, प्र+ऊढः=प्रौढः, प्र+ऊढिः=प्रौढिः, प्र+एपः=प्रैपः, प्र+एष्यः=प्रैष्यः । इन शब्दों में पूर्व पर के स्थान में गुण^१ को बाध के वृद्धि होती है ।

१३८—वा०—स्वादिरेरिणोः ॥

महा० ६।१।८८ ॥

स्व शब्द के आगे इर और इरिन् शब्द हों तो पूर्व पर के स्थान में वृद्धि एकादेश होता है । जैसे—स्व+इरम्=स्वैरम्, स्व+इरी=स्वैरी । यहां गुण पाता था^२ सो न हुआ ।

१३९—वा०—ऋते च तृतीयासमासे ॥

महा० ६।१।८८ ॥

१. सन्धि० १३३ सूत्र से प्राप्त । २. ऊह, ऊढ और ऊढि में 'आदू गुणः' (सन्धि० १३३) सूत्र से, और एप तथा एष्य में 'एङि पररूपम्' (सन्धि० १४५) सूत्र से । ३. सन्धि० १३३ सूत्र से ।

अवर्णान्त पूर्वपद के आगे तृतीयासमास में ऋत शब्द हो तो पूर्व पर के स्थान में वृद्धि एकादेश होता है। सुखेन + ऋत = सुखार्त, दुःखेन + ऋत = दुःखार्त । यहाँ 'ऋत' ग्रहण इसलिये है कि 'सुख + इत = सुखेत' ऐसे वाक्या में वृद्धि न हो। 'तृतीया' ग्रहण इसलिये है कि 'परम + ऋत = परमर्त' यहाँ भी वृद्धि एकादेश न हो। और 'समास' ग्रहण इसलिये है कि सुखेन + ऋत = सुखेनर्त । यहाँ भी वृद्धि एकादेश न हुआ। यहाँ गुण और प्रकृतिभाव^१ भी पाया था।

१४०-वा०-प्रवत्सतरकम्बलवसनानां च ऋणे ॥

महा० ६।१।८८ ॥

प्र, वत्सतर, कम्बल, वसन इन शब्दों के आगे ऋण शब्द हो तो पूर्व पर के स्थान में वृद्धि एकादेश होता है। जैसे-प्र + ऋणम् = प्रारणम्, वत्सतर + ऋणम् = वत्सतरारणम्, कम्बल + ऋणम् = कम्बलारणम्, वसन + ऋणम् = वसनारणम् । यहाँ सर्वत्र गुण और प्रकृतिभाव^१ पाया था।

१४१-वा०-ऋणदशाभ्यां च ॥

महा० ६।१।८८ ॥

ऋण और दश शब्द के आगे ऋण शब्द हो तो पूर्व पर के स्थान में वृद्धि एकादेश होता है। जैसे-ऋण + ऋणम् = ऋणारणम्, दश + ऋणम् = दशारणम् । यहाँ भी गुण और प्रकृतिभाव^१ दोनों पाये थे।

* [१४२-आटश्च ॥ ३।१।८६ ॥

जो धातुओं के पूर्व आट् का आगम होता है उससे परे अजादि

१ यहाँ अर्थात् सुखार्त, दुःखार्त शब्दों में । २-गुण-भाव गुणः (सन्धि० १३३) सूत्र से । प्रकृतिभाव-कृत्यक (सन्धि० १०६) सूत्र से । * कोष्ठान्तरात् पाठ प्रथमावृत्ति में अधिक है ।

धातु हो तो पूर्व पर के स्थान में वृद्धि एकादेश होता है जैसे—आ + ईक्षत = ऐक्षत, आ + ईक्षिष्ट = ऐक्षिष्ट, आ + ईहिष्ट = ऐहिष्ट, आ + वनत् = औनत् । यहां 'आद् गुणः' इस सूत्र से गुण पाया था सो न हुआ ।]

१४३—उपसर्गादिति धातौ ॥ ६ । १ । ६० ॥

अवर्णान्त उपसर्ग से परे ऋकारादि धातु हो तो पूर्व पर के स्थान में वृद्धि एकादेश हो जाय । यह सूत्र भी गुण एकादेश का बाधक है । [जैसे—] प्र + ऋच्छति = प्राच्छति, उप + ऋच्छति = उपाच्छति, प्र + ऋभ्नोति = प्राभ्नोति । यहां 'उपसर्ग' ग्रहण इसलिये है कि 'खट्वा + ऋच्छति = खट्वच्छति' यहां वृद्धि न हुई ।

१४४—चा०—सुप्यापिशलेः ॥ ६ । १ । ६१ ॥

अवर्णान्त उपसर्ग से परे ऋकारादि सुबन्त धातु हो तो पूर्व पर के स्थान में विकल्प करके वृद्धि एकादेश होता है, परन्तु गुण हो जाय, परन्तु यह बात आपिशलि आचार्य के मत में है अन्य के नहीं । यहां पूर्वसूत्र की अन्वृत्ति आती है । [जैसे—] उप + ऋणीयति = उपाणीयति, उपर्णीयति । विकल्प के लिये वा शब्द तो पढ़ा ही है फिर जो यहां आपिशलि का ग्रहण है सो सत्काराथ है ।

१४५—एडि पररूपम् ॥ ६ । १ । ६३ ॥

अवर्णान्त उपसर्ग से परे एहादि धातु हो तो पूर्व पर के स्थान में पररूप एकादेश होता है । यह सूत्र वृद्धि का अपवाद है । [जैसे—] प्र + एलति = प्रेलति, उप + एलति = उपेलति, प्र + ओपति = प्रोपति, उप + ओपति = उपोपति ।

१४६—चा०—एवे चानियोगे ॥ महा० ६ । १ । ९३ ॥

अनियोग अर्थात् अनियत अर्थ में अवर्णान्त से परे एव शब्द हो तो पूर्व पर के स्थान में पररूप एकादेश हो जाय । [जैसे—]
इह + एव = इहेव, अग + एव = अगेव । यहां 'अनियोग' ग्रहण इस-
लिये है कि 'इहेव भव, मा स्म गाः' यहां नियोग के होने के कारण
पररूप न हुआ ।

१४७—वा०—शकन्ध्वादिषु च ॥

महा० ६ । १ । ९३ ॥

शकन्धु आदि शब्दों में पूर्व पर के स्थान में पररूप एकादेश होता है । जैसे—शक + अन्धुः = शकन्धुः, कुल + अटा = कुलटा, इत्यादि ।

'सीम + अन्त' शब्द भी शकन्ध्वादि शब्दों के सदृश है, परन्तु इस में भेद यह है कि—

१४८—वा०—सीमन्तः केशेषु ॥

महा० ६ । १ । ९३ ॥

केश अर्थ वाच्य हो तो सीम शब्द से अन्त शब्द क परे पूर्व पर के स्थान में पररूप एकादेश हो जाय । जैसे—सीम + अन्तः = सीमन्तः । यहां 'केश' ग्रहण इसलिये है कि अन्यत्र पररूप एकादेश न हो, अर्थात् जैसे—सीमान्तः । यहां पररूप एकादेश न हुआ, किन्तु सवर्णदीर्घे एकादेश हो गया ।

१४९—वा०—ओत्वोष्ठयोः समासे वा ॥

महा० ६ । १ । ९३ ॥

जो अवर्णान्त के आगे ओत्तु, ओष्ठ शब्दों का समास किया हो तो विकल्प करके पूर्व पर के स्थान में पररूप एकादेश होता है । पक्ष में वृद्धि हो जाती है क्योंकि इस वाचिक से वृद्धि की प्राप्ति में पररूप एकादेश किया है । जैसे—स्थूल + ओत्तु = स्थूलोत्तुः, स्थू-

लौतुः; विम्ब + ओष्ठी = विम्बोष्ठी, विम्बौष्ठी । यहां 'समास' ग्रहण इसलिये है कि 'एहि षालौतुरायाति' यहां समास के न होने से पर-रूप नहीं हुआ ।

१५०-घा०-एमन्नादिपुच्छुन्दसि ॥

महा० ६ । १ । ९३ ॥

वेदस्थ प्रयोगों में अवर्ण से परे एमन् आदि शब्द हों तो पररूप एकादेश हो । जैसे-अपां त्वा + एमन् = अपां त्वेमन्, अपां त्वा + ओद्मन् = अपां त्वाद्मन्, इत्यादि । यहां वृद्धि पाई थी सो न हुई ।

१५१-ओमाडोश्च ॥ ६ । १ । ६४ ॥

जो अवर्णान्त शब्द से परे ओम और आह् शब्द हों तो पूर्व पर के स्थान में पररूप एकादेश होता है । जैसे-कन्या + ओमित्यु-वाच = कन्यामित्युवाच, आ + उनति = ओनत्ति, अद्य + ओनति = अद्योनति, कदा + ओनति = कदोनति । यहां आकार का उकार के साथ पररूप एकादेश होता है उसका पर का आदिवन् मान के पुनः पररूप एकादेश होता है । यहां भी वृद्धि प्राप्त थी सो न हुई ।

॥ १५२-उस्यपदान्तात् ॥ ६ । १ । ६५ ॥

जो अपदान्त अवर्ण से परे उस प्रत्यय हो तो पूर्व पर के स्थान में पररूप एकादेश होता है । यह भी गुण का अपवाद है । हन्या + उस् = हन्युः, भिन्या + उस् = भिन्युः, इत्यादि । यहां 'अपदान्त' ग्रहण इसलिये है कि 'का + उस्त्रा = कोस्त्रा, तत्र + उपित्वा = तत्रो-पित्वा' यहां पदान्त में पररूप एकादेश न हुआ ।

१. हृदिरेचि (सन्धि० १३४) सूत्र से ।

२. कोष्ठान्तगत पाठ प्रथमावृत्ति में अधिक है ।

१५३—अतो गुणे ॥ ६ १ । ६६ ॥

जो अपदान्त अकार से परे गुणवाची अ, ए, ओ, हों तो पूर्व पर के स्थान में पररूप एकादेश होता है। [जैसे—] पच + अन्ति = पचन्ति, पच + ए = पचे, इत्यादि।

१५४—अव्यक्ताऽनुकरणस्यात इतौ ॥ ६ । ६७ ॥

जो इति शब्द परे हों तो अव्यक्त शब्द का जो अनुकरण उसको अत् भाग को पररूप एकादेश हो जावे। जिसमें अकारादि वर्ण स्पष्ट न निकलें उसको अव्यक्त शब्द कहते हैं। अनुकरण वह कहाता है कि किसी मनुष्य ने जैसा शब्द किया हो उसका प्रतिशब्द नकल करनी। जैसे—पटत् + इति = पटिति, घटत् + इति = घटिति, इत्यादि। यहाँ अव्यक्त का अनुकरण इसलिये कहा है कि 'जगत् + इति = जगदिति' ऐसे वाक्यों में पररूप एकादेश न हुआ।

१५५—वा०—इतावनेकाज्ग्रहणं अदर्शम् ॥

महा० ६ । १ । ९७ ॥

जहाँ इति शब्द के परे अव्यक्त शब्द के अनुकरण को पररूप एकादेश किया है वहाँ अनेकाच्च अव्यक्त शब्द को हो, अर्थात् 'अत् + इति = अदिति' यहाँ एकाच् शब्द के अत् भाग को पररूप न हुआ।

१५६—तस्य परमाग्रेडितम् ॥ ८ । १ । २ ॥

जो द्विवचन का पर भाग है उसकी आग्रेडित संज्ञा होती है। जैसे—ऋक्-ऋक्। यहाँ जो परे ऋक् शब्द है उसको आग्रेडित कहते हैं। इसी प्रकार सर्वप्रसमम्ना।

१५७—नाग्रेडितस्यान्त्यस्य तु वा ॥ ६ । १ । ६८ ॥

जो आग्रेडित संज्ञक अव्यक्त शब्द के अनुकरण का अत् भाग हो उसको इति शब्द के परे पररूप एकादेश न हो, किन्तु जो आग्रे-

द्वितसंज्ञक के अन्त में तकार है उसको विकल्प करके पररूप एकादेश होवे । पटत् पटत् । यहाँ पर भाग आग्नेदित् कहाता है । पटत् पटत् + इति = पटत्पटेति । और जिस पत्त में पररूप [न] हुआ वहाँ—पटत्पटदिति ।

१५८-वा०-नित्यमाम्नेदिते डाचि पररूपं

वक्तव्यम् ॥ महा० ६ । १ । ९८ ॥

इस वार्तिक का प्रयोजन यह है कि जो अनुकरण में डाच प्रत्ययान्त आग्नेदित परे हो तो पूर्व के अन्त्य के तकार को नित्य पररूप एकादेश हो जाय । जैसे—पटत् + पटा । यहाँ तकार को पर अर्थात् पकार का रूप हो जाता है । पटपटा करोति, पटपटायते, घटघटा करोति, घटघटायते, शरशरा करोति, शरशरायते ॥

काशिकावाले जयादित्य आदि लोगों ने इस वाक्तिक का सूत्रपाठ में व्याख्यान किया है, सो सत्य नहीं । महाभाष्य के देखने से स्पष्ट विदित होता है कि यह सूत्र नहीं है, किन्तु लेखकभ्रम से सूत्रों में लिखा गया है ।

ॐ [१५९-संप्रसारणाच्च ॥ ६ । १ । १०६ ॥

यण् अर्थात् य व र ल इन चार वर्णों के स्थान में इक् अर्थात् इ, उ, ऋ, ए, ये चार आदेश होते हैं, इनको संप्रसारण कहते हैं । जो संप्रसारण से परे अच् हो तो पूर्व पर के स्थान में पूर्वरूप एकादेश हो जाता है । जैसे—यज् + क् + सु = इ + अज् + क् + सु = इष्टम्, यज् + त्तिन् + सु = इ + अज् + त्तिन् + सु = इष्टिः, वप् + क् +

० यह कोष्ठान्तर्गत पाठ प्रयमावृत्ति में अधिक है ।

१. देखो 'हृग्यणः संप्रसारणम्' । अष्टा० १ । १ । ५९ ॥

सु = व + अप् + क्त + सु = वप्तम्, ग्रह + क्त + सु = गृ + अह + क्त + सु = गृहीतम्, + ग्रह, तिन् + सु = गृ + अह, × क्तिन् + सु = गृहीतिः, इत्यादि । }

१६०-एङ् पदान्तादति ॥ ६ । १ । १०७ ॥

जो पदान्त एङ् से परे ह्रस्व अकार हो तो 'पूर्व पर के स्थान में पूर्वरूप एकादेश होता है । जैसे-अग्ने + अत्र = अग्नेऽत्र, वायो + अत्र = वायोऽत्र, ब्राह्मणो + अभवीत् = ब्राह्मणोऽभवीत्, गुरवे + अदात् = गुरवेऽदात् । 'अत्' ग्रहण इसलिये है कि 'वायो + इति' यहाँ पूर्वरूप न हुआ ।

१६१-प्रकृत्यान्तः पादमव्यपरे' ॥ ६ । १ । ११३ ॥

यहाँ से लेके सात सूत्रों का विषय वेदों ही में समझना । जहाँ वकार यकार परे न हों ऐसे अकार के परे पदान्त एङ् प्रकृति करके अर्थात् व्यों का ल्यों बना रहे, यदि वह [एङ्] पाद के बीच में हो । जैसे—आरे अस्मे अशृण्वते, त्रयो अस्य पादोः, वप प्रयन्तो अव्ययः, शुक्र दुदुहे अह्वयः, यजिष्ठो अभ्वरेष्वाह्वयः, इत्यादि । यहाँ पाद के बीच में इसलिये कहा है कि—'द्विपतो वधोऽसि, रक्षमां भागोऽसि, इत्यादि में एङ् प्रकृति करके न रहे' । वकार यकार परे न हों यह इसलिये है कि 'तेऽवदन्, तेऽयुः' इत्यादि में भी प्रकृतिभाव न हो ।

१६२—अव्ययव्ययवचनमुरवतायमचन्तवचस्युपुच ॥ ६ । १ । ११४ ॥

१. महाभाष्य के अनुसार इस सूत्र का पाणिनीय पाठ 'मान्तः पादम्' है । इस का अर्थ है—पाद के मध्य में जो एङ् उस से भवर्ण परे रहने पर जो कार्य कहा है वह न हो । इस सूत्र का पाठान्तर 'प्रकृत्यान्तः पादम्' है । 'अव्यपरे' अंश वार्तिक का है । २. पाद शब्द का व्यवहार पद्यबद्ध मन्त्रों में ही होता है । ये प्रत्युदाहरण गद्यमन्त्रों के हैं ।

पदान्त एह् से अव्यात्, अवद्यात्, अवक्रमुः, अग्रतः, अयम्, अवन्तु, अवस्यु इन उत्तरपदों में वकार यकार पर भी अकार परे हो तो पदान्त एह् प्रकृति करके रह जावे। जैसे—वसुभिर्नो अव्यात्, मित्रमहो अवद्यात्, मा शिवासो अवक्रमुः, ते नो अग्रतः, शतधारो अयं मणिः, ते नो अवन्तु पितरः, शिवासो अवस्यवः, इत्यादि।

१६३—यजुष्युरः ॥ ६। १। ११५ ॥

यजुर्वेद में अकार के परे उः शब्द का 'उरो' पदान्त एह् होता है वह प्रकृति करके रहे। जैसे—उरो अन्तरिक्षम्, इत्यादि।

१६४—आपो जुपाणो वृष्णो वर्षिष्ठे अम्बे अम्बाले
अम्बिके पूर्व ॥ ६। १। ११६ ॥

यजुर्वेद में आपो, जुपाणो, वृष्णो, वर्षिष्ठे, ये एहन्त शब्द अकार के पूर्व हो तो प्रकृति करके रहें, और अम्बिक शब्द से पूर्व अम्बे, अम्बाले हो तो ये दो शब्द इमी प्रकार रहें। जैसे—आपो अस्मान् मातर शुन्धयन्तु, जुपाणो अग्निर्वेतु स्वाहा, वृष्णो अंशुभ्यां गमस्तिभिः, वर्षिष्ठे अविनाके, अम्बे अम्बाले अम्बिके।

१६५—अद्ग इत्यादौ च ॥ ६। १। ११७ ॥

जो यजुर्वेद में अकार परे हो तो 'अद्गे' एहन्त शब्द प्रकृति करके रह जावे, और जो अद्गे इसके परे आदि एह है सो भी प्रकृति करके रहता है। जैसे—ऐन्द्रः प्राणो अद्गे अद्गे निदीध्यत् इत्यादि।

१६६—अनुदात्ते च कुधपरे ॥ ६। १। ११८ ॥

यजुर्वेद में जिस अनुदात्त अकार से परे कवर्ग और घकार हो उसके परे पदान्त एह् प्रकृति करके रह जावे। जैसे—अयं सो अग्निः, अयं सो अध्वरः, इत्यादि।

हत्; कुमारि औदत्, कुमार्यौदत्; बधु आगमनम्, बध्वागमनम्; बधु इन्दत्, बध्वन्दत्; बधु हत्, बध्वाहत्; बधु अचछति, बध्वचछति; बधु एत्, बध्वेत्; बधु आस्वति, बध्वास्वति; बधु ऐधिष्ट, बध्वैधिष्ट; बधु औदिष्ट, बध्वौदिष्ट; पितृ अयनम्; पितृयनम्; पितृ आदरः, पित्रादरः; पितृ इक्षुः, पित्रिक्षुः; पितृ ईहा, पित्राहा; होत् वत्ता, होयुत्ता; पितृ ऊद्, पि ह्., इत्यादि असंख्य प्रयोग जनते हैं। यहाँ 'असंख्ये' ग्रहण ईसलिये है कि 'कुमारी ईहते - कुमारीहते' इसके दो प्रयोग न हों, किन्तु नित्य ही दीर्घ एकादेश हो जावे, और शाकल्यग्रहण आदरार्थ है।

१७४-वा०-सिन्नित्यसमासयोः शाकलप्रति-
षेधः ॥ महा० ६।१।१२५ ॥

सित् प्रत्यय के परे और नित्यसमास में शाकल अर्थात् इस 'इकोऽसंख्ये' सूत्र का कार्य न हों। अतु + इयः। यहाँ 'इयः' सित् प्रत्यय है इसके परे प्रकृतिभाव नहीं होता, 'अतिव्य.' यह एक ही प्रयोग होता है। नित्यसमास— वि आकरणम् = व्याकरणम्, कुमारी अर्थः = कुमार्यर्थः। यहाँ प्रकृतिभाव और ह्रस्व नहीं होता।

१७५-वा०-ईपा-अक्षादिषु च छन्दसि प्रकृ-
तिभावमात्रम्। महा० ६।१।१२५ ॥

वैदिक विषय में 'ईपाअक्षा' आदि शब्दों में प्रकृति भाव मात्र होता है। अर्थात् जिन में 'इकोऽसंख्ये' सूत्र से ह्रस्वत्व की भी

१. यण् सन्धि के विधान सामर्थ्य से यण् सन्धि होगी, और प्रकृति भाव के विधान सामर्थ्य से प्रकृति भाव। इस प्रकार दोनों रूप विधान सामर्थ्य से बन ही जावेंगे। अतः शाकल्य ग्रहण यहाँ विकल्पार्थ नहीं है।

प्राप्ति होती है वह नहीं होती । जैसे—ईषा अचः । का ईमिरे पिशङ्गिला, पथा अगमन्, इत्यादि ।

१७६—ऋत्थकः ॥ ६ । १ । १२६ ॥

जो अक् प्रत्याहार से परे ह्रस्व ऋकार हो तो उसे शाकल्य ऋपि के मत में प्रकृतिभाव और ह्रस्व ह्रांता और अन्य आचार्यों के मत में नहीं होता है । खट्वा + ऋश्यः = खट्व ऋश्यः, भाला + ऋश्यः = माम ऋश्यः । यहां हुन्व और प्रकृतिभाव हुआ, और 'खट्वर्श्यः, मालर्श्यः' यहां न हुआ । इत्यादि प्रयोग बनते हैं । यहां 'अप्' प्रहण इसलिये है कि 'कुमारावृषा' यहां सन्धि हो जाय ।

१७७—अप्लुतवदुपस्थिते ॥ ६ । १ । १२७ ॥

जो प्लुत से परे उपस्थित अर्थात् अनार्य इति शब्द हो तो प्लुत को अप्लुतवत् कार्य हो, अर्थात् प्लुत को प्रकृतिभाव न हो । जैसे—सुभद्रा३ इति सुभद्रेति, सुमङ्गला३ इति = सुमङ्गलेति, सुरलोका३ इति = सुरलोकेति । जिन शब्दों की प्रगृह्यसंज्ञा होती है उनमें से किसी-किसी को प्लुत संज्ञा भी होती है । जैसे—अग्नी३ इति, इत्यादि । यहां प्लुत को अप्लुतवत् होकर सन्धि नहीं होता, क्योंकि प्रगृह्य संज्ञा को मान के प्रकृतिभाव हो जाता है ।

१७८—ई ३ चाक्रवर्मणस्य ॥ ६ । १ । १२८ ॥

जो प्लुत ईकार है वह चाक्रवर्मण आचार्य के मत में अप्लुतवत् होता है, अर्थात् उसको प्लुत का कार्य नहीं होता । चिनुही३ इदम् = चिनुहीदम्, सुनुही३ इदम् = सुनुहीदम्, इत्यादि । यहां भी पूर्व सूत्र से अप्लुतवत् हो जाता, परन्तु यह सूत्र उपस्थित से अन्यत्र हो अप्लुतवत् करता है ।

१७६—इको यणचि ॥ ६ । १ । ७६ ॥

इक् प्रत्याहार अर्थात् इ, उ, ऋ, ए, इन चार वर्णों से परे अच् हो तो इन के स्थान में यण अर्थात् य, व, र, ल ये चार वर्ण [क्रमशः] हो जावें। जैसे—वापी—अश् = वाप्यश्, कुमारी—अपि = कुमार्यपि। यहाँ बाहिरङ्गलक्षण यणादेश को असिद्ध मानकर सयोगान्तलोप नहीं होता। बधू + अत्र = बध्वत्र, पितृ + अर्थम् = पितृर्थम्, लु + अनुबन्ध — लनुबन्धः, इत्यादि असंख्य उदाहरण बनते हैं।

१८०—एचोऽयवायाचः ॥ ६ । १ । ७७ ॥

एच् अर्थात् ए, ओ, ऐ, औ इन चार वर्णों से परे अच् हो तो इनके स्थान में क्रम से अय, अय्, आय्, आव्, ये आदेश होते हैं। जे + अ — जय^१। माले + आ — मालया^२, माले + ओ —

१. वाप्यश्, कुमार्यपि उदाहरणों में 'सयोगान्तस्य लोपः' (भा० ११२) से यकार का लोप प्राप्त होता है। यकारलोप स्वपदाअय कार्य है, और यणादेश द्विपदान्तगत इक् और अच् को मानकर होता है। 'यङ्पेक्ष बहिरङ्गम्' अल्पापेक्षमन्तरङ्गम् इस नियम के अनुसार यकारलोप अन्तरङ्ग और यणादेश बहिरङ्ग कार्य है। असिद्ध बहिरङ्ग-लक्षणमन्तरङ्गलक्षणे (पारि० ४४) अर्थात् बहिरङ्ग लक्षण कार्य अन्तरङ्गलक्षण कार्य की दृष्टि में असिद्ध होता है इस नियम से अन्तरङ्ग यकार लोप के प्रति बहिरङ्ग यणादेश असिद्ध होता है। यणादेश के असिद्ध होने से यलोप नहीं होता।

२. नि धातु से परे 'एरच्' (भा० १३९९) से अच्, सावंधातु-कार्यधातुकयो (भा० २१) से गुण—जे + अ। ३. माछा शब्द से परे तृतीया का एकवचन, पष्ठी, सप्तमी का द्विवचन हो तो 'भाछि चाप' (भा० ५०) सूत्र से एकारादेश होता है।

मालयोः, इत्यादि । वायो + आयाहि = वायवायाहि, लो + अः = लवः^१ [इत्यादि] । ऐ + अः—आयः^२, इत्यादि । लौ + अकः = लावकः^३, इत्यादि ।

१८१—वान्तो यि प्रत्यये ॥ ६ । १ । ७८ ॥

वान्त अर्थात् जो पूर्वसूत्र में अच् आव् आदेश कहे हैं वे यकारादि प्रत्यय के परे भी हों जायें । जैसे—अव्-वाभ्रो + यः = वाभ्रव्यः^४, आव्-नौ + यः—नाव्यः^५, इत्यादि । यहां 'वान्त' प्रहण इसलिये है कि 'रैयति' यहां न हो । यकारादि प्रहण इसलिये है कि 'नौका' यहां न हो । 'प्रत्यय' प्रहण इसलिये है कि 'गोयानम्' यहां अच् आदेश न हों जावे ।

१८२—वा०-गोर्यूतौ छन्दस्युपसंख्यानम् ॥

महा० ६ । १ । ७८ ॥

वैदिक प्रयोगों में गो शब्द से परे यूति हो तो गो शब्द के [ओकार के] स्थान में वान्त आदेश होजाय । आ नो मित्रावरुणा धृतेर्गव्यूतिमुद्यतम् । यहां 'गो' आगे 'यूतिः' इसका 'गव्यूतिः' हुआ है ।

१. कदोरप् (भा० १४०३) से अच्, पूर्ववत् गुण—ली + अ ।

२. भाङ् + इण्—परच् (भा० १३९९) से अच्, पूर्ववत् गुण, भा + ण् = णे—वृद्धिरेचि (सन्धि १३४) से वृद्धि, णे + अ । ३. ण्वुल्-तृची (भा० ९७९) से ण्वुल्, 'युवोरनाम्नी' (भा० ७ । १ । १) से अच् आदेश, 'अचोऽम्प्राति' (भा० ६०) से वृद्धि—ली + अकः । ४. मधुपभ्रवो—प्राक्ष्णकौशिकयोः (छै० १८३) से यञ्, 'तद्वितेष्वचामादे' (छै० ९१४) से वृद्धि, 'ओगुण' (छै० १६९) से गुणादेश—वाभ्रो + य ।

५. नीचयोर्धममूलमूल० (छै० ५१३) से यट् । ६. सुप आत्मनः क्यच् (भा० ५६१) से क्यच्—रै + य + ति । ७. इत्था नौ, नीका—'ह्रस्वे' (भा० ५ । ३ । ८६) से क प्रत्यय ।

१८३—वा०—अध्वपरिमाणे च ॥ महा० ६ ।

१ । ७८ ॥

मार्ग के परिमाण का अर्थ हो तो यूति शब्द के परे गो शब्द के [ओंकार के] स्थान में वान्त आदेश हो। जैसे—गो + यूतिः = गन्यूतिः, गन्यूतिमध्वानं गतः । दो कोश को गन्यूति कहते हैं ।

१८४—धातोस्तन्निमित्तस्यैव ॥ ६ । १ । ७९ ॥

जहाँ यकारादि प्रत्यय को मानके धातु को एच् हुआ हो तो यकारादि प्रत्यय के परे वान्त आदेश होता है, अन्यत्र नहीं । भो + यम् = भव्यम्^१, अवश्य + लौ + यम् = अवश्यलाभ्यम्^२ । यहाँ 'धातु' प्रहण इसलिये है कि प्रतिपादित का नियम न हो जावे । 'तन्निमित्त' प्रहण इसलिये है कि 'ओयते,^३ लौयमानिः^४ ' यहाँ यकारादि प्रत्ययनिमित्त एच् नहीं है ।

१८५—क्षर्यजर्यौ शक्यार्थे ॥ ६ । १ । ८० ॥

यन् प्रत्यय परे हो तो शक्यार्थ में क्षि, जि. धातुओं के एकार को

अय् आदेश निपातन किया है। 'चेतुं शक्यः क्षय्यः', 'जेतुं शक्यो जय्यः'। 'शक्यार्थ' इसलिये कहा है कि 'क्षेयं' पापम्' इत्यादि में अय् नहीं होवे।

१८३-क्रय्यस्तदर्थे ॥ ६।१।८१॥

क्री धातु का अर्थ जो बेचने का है वह वाच्य हो और यत् प्रत्यय परे हो तो क्री धातु के एकार को अय् आदेश निपातन किया है। क्रय्यो^२ गौः, क्रय्यः कम्बलः। 'तदर्थे' इसलिये कहा है कि 'क्रेयं धान्यम्' यहाँ द्रव्यवाच्य विक्रेयार्थ में न होवे^३।

१८७-भय्यप्रवय्ये च छन्दसि ॥ ६।१।८२॥

यत् प्रत्यय परे हो तो वेद विषय में 'भी' और प्रपूर्वक 'वी' धातु के एकार को अय् आदेश निपातन किया है। भय्यम्^४, प्रवय्या^५। यहाँ भय्य शब्द में अपादान में प्रत्यय है और प्रवय्या खीलिङ्ग में नियत है। वेद में इसलिये कहा है कि 'भेयम्^६, प्रवेयम्^७' यहाँ न हो।

१८८-वा०-हृदय्या आप उपसंख्यानम् ॥

महा० ६।१।८२॥

जल अर्थ में हृद शब्द के एकार को यन् प्रत्यय के परे अय् आदेश हो हृदय्या^८ आपः।

॥ इति स्वरसन्धिः ॥

१. क्षि, जि धातु से 'अचो यत्' (भा० ९२१) से यत्, 'सार्वधा-तुकार्धधातुरुयोः' (भा० २१) से गुण—क्षे + य, जे + य। २. क्री धातु से पूर्ण की तरह यत् और गुण—क्रे + य। ३. जो द्रव्य दुरूप में बेचने के लिये रखा हुआ होता है वह 'क्रय्य' कहा जाता है। जिस द्रव्य में बेचने की योग्यता तो हो, परन्तु बेचने के लिये न हो वह 'क्रेय' कहा जाता है। ४. भी और वी धातु से पूर्वयत् यत् प्रत्यय और गुण। ५. 'हृदे भवाः' इस अर्थ में सप्तम्यन्त हृद शब्द से 'मरे छन्दसि' (अ० ४।४।११०) से यत्, छान्द-सय्यात् सप्तमी का अनुक्—हृदे + यत्, अयादेश, खीलिङ्ग में टाप्-हृदय्या।

अथ हल्स्वरसन्धिः ।

१८६-चोः कुः ॥ ८ । २ । ३० ॥

पदान्त में वर्तमान चवर्ग के स्थान में कवर्ग आदेश हो जाता है, और मल्ल परे हो तो भी । इससे वाच् आदि चकारान्त शब्दों को ककारादेश हो जाता है । जैसे—वाच् + सु = वाक्, वाग्, इत्यादि ।

१६०-भृतां जशोऽन्ते ॥ ८ । २ । ३६ ॥

पदान्त में मलों के स्थान में जश् आदेश हों । देखो जहां चकारान्त शब्दों को ककार होता है उनसे उत्तरपद के आदि में स्वर हों तो ककार को गकार हो जाता है । जैसे—वाक् + अग्र = वागग्र । और चकार के 'अच् + अन्तः = अजन्तः' इत्यादि, यहाँ जकार हो जाता है । प्रपवाह्, दित्यवाह्, वुरासाह्, इत्यादि हकारान्त शब्दों से परे स्वर हों तो इनको जश् आदेश हो जाता है । जैसे—प्रपवाह् + इह = प्रपवाडिह । पट् + अन्तः = पडन्तः विट् + इह = विडिह, सम्राट् + अग्र = सम्राडग्र, विराट् + इहते = विराडोहते, इत्यादि टकारान्त शब्दों के स्थान में डकारान्त हो जाते हैं । जो धकारान्त शब्दों में परे स्वर हो तो दकार हो जाता है । जैसे—समिध् + आधा-

१. यहाँ पर 'चोः कुः' और 'भृतां जशोऽन्ते' सूत्र से 'वागग्र' के समान 'अजन्त' प्रयोग होना चाहिये, परन्तु 'वृद्धिरादिजट् गुण' (भ १ । १ । १६, १७) 'माश्लर्ही' (भ ० १ । १ । २५) इत्यादि सूत्रों में कुत्व का अभाव होने से तथा धियाकरणों के 'अजन्त' आदि व्यवहार में प्रतीत होता है कि अजन्त उत्तरपद परे रहने पर भच् एच् ऐच् आदि चकारान्त प्रत्ययों के कु-आदेश नहीं होगा ।

नम् = समिदाधानम्, इत्यादि । जो तकारान्त शब्दों से परे अजादि उत्तरपद हों तो तकार को दकार हो जाता है । जैसे—विद्युन् + आपतनम् = विद्युदापतनम्, विद्युत् + इह = त्रिदिह । पकारान्त तथा भकारान्त शब्दों के अन्त में अजादि उत्तरपद परे हों तो वकार आदेश हो जाता है । जैसे—[पकारान्त—] अप् + अध्यनम् = अध्यनम्, तिप् + अन्तः = तिवन्तः, सुप् + अन्तः = सुबन्तः, इत्यादि । भकारान्त—अनुष्टुभ् + एव = अनुष्टेव, त्रिष्टुभ् + आदि = त्रिष्टुयादि । जो इनसे भिन्न अन्य वर्ण पदान्त में आवेंगे तो उनमें कुछ विशेष विकार न होगा । जैसे—भ्य् + आदि = भयादि, सम् + अवैति = समवैति, प्रातर् + अत्र = प्रातरत्र, पुनर् + इह = पुनरिह, इत्यादि ।

॥ इति हलस्वसन्धिः ॥

अथ हल्सन्धिः



अथ इसके आगे पदान्त अथवा अपदान्त नकार मकार वा अन्य वर्णों को जिस जिस वर्ण के परे जो-जो कार्य होते हैं उस उस को लिखते हैं—

१६१—मोऽनुस्वारः ॥ ८ । ३ । २३ ॥

जो हल् परे हो तो पदान्त मकार को अनुस्वार होता है। जैसे—ग्रामम् + याति = ग्राम याति। यहाँ पदान्त की अनुवृत्ति इसलिये है कि 'गम्यते' यहाँ अनुस्वार न हुआ।

१६२—नश्चापदान्तस्य झलि ॥ ८ । ३ । २४ ॥

जो झल् प्रत्याहार परे हो तो अपदान्त अर्थात् एक पद में नकार और मकार को अनुस्वार होता है। जैसे—मीमान् + सते = मीमासते, पुम् + सु—पुसु, इत्यादि।

इस विषय में यह समझना चाहिये कि श, प, स, ह, इतने वर्णों के परे अपदान्त नकार मकार को अनुस्वार हो जाता है, परन्तु वैदिक प्रयोगों में श, प, स, र, ह इन वर्णों के पर अनुस्वार को थ्र आदेश होता है, क्योंकि—रेफोप्मणा सवर्णा न सन्ति। महा० १।१।२। इस ह्रापक से सवर्णादेश का निषेध होकर असवर्णादेश होता है। इस में भी जो कुछ विशेष होगा वह आगे लिखेंगे। 'झल्' प्रत्याहार ग्रहण इसलिये है कि 'गम्यते' यहाँ न हुआ। और झल् प्रत्याहार में [श, प, स, र, ह इनको छोड़कर] बाक़ी जो वर्ण बचे हैं उनके परे अपदान्त नकार मकार को अनुस्वार होके जो कुछ विकार होता है वह आगे लिखेंगे।

१६३—मो राजि सभः कौ ॥ ८ । ३ । २५ ॥

किप् प्रत्ययान्त राज् धातु परे हो तो सम् च्चपसर्ग के मकार को मकार ही आदेश हो^१। जैसे—सम्+राट्=सम्राट्, साम्+राज्यम्—साम्राज्यम्। यहाँ 'सम्' ग्रहण इसलिये है कि 'स्वराट्' इत्यादि में नहीं होता। किप् प्रत्ययान्त ग्रहण इसलिये है कि 'संराजितव्यम्, सराजितुम्' यहाँ न हुआ।

१६४—हे मपरे वा ॥ ८ । ३ । २६ ॥

जिससे परे मकार हो ऐसे हकार के परे पदान्त मकार को मकार आदेश विकल्प करके होता है। द्वितीय पक्ष में मकार को अनुस्वार होता है। जैसे—कि हलयति, किम्हलयति, कथं हलयति, कथम्हलयति, इत्यादि। यहाँ मपर हकार का ग्रहण इसलिये है कि 'कि हससि' इत्यादि में = हो।

१६५—वा०—यवलपरे यवला वा ॥

महा० ८ । ३ । २६ ॥

जिससे परे य, व, ल वर्ण हो ऐसा हकार परे हो तो पदान्त मकार को सानुनासिक य, व, ल विकल्प करके होते हैं। पक्ष में अनुस्वार हो जाता है। य—किं ह्योऽभवत्, कि ह्योऽभवत्। व—किं ह्वलयति, कि हलयति। ल—किं ह्लादयति, कि ह्लादयति, इत्यादि। प्रत्युदाहरण जैसे—कि ह्रप्यासि, इत्यादि में न हुआ।

१६६—नपरे नः ॥ ८ । ३ । २७ ॥

जो हकार से परे नकार हो तो मकार को विकल्प करके नकार आदेश होता है। पक्ष में अनुस्वार होगा। जैसे—किन् हनुते, कि हनुते, कथन् हनुते, कथ हनुते इत्यादि। नपर हकार इसलिये कहा है कि 'कि हृदय तेऽस्ति' यहाँ न हुआ।

१ मकार को मकारादश का विधान अनुस्वार की निवृत्ति के लिये है।

अब पदान्त नकार मकार को अनुस्वार हो के जो-जो विशेष [कार्य] होता है सो लिखते हैं—

१६७—अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः ॥ ८ ।

४ । ५७ ॥

जो यय् प्रत्याहार परे हो तो अपदान्त अनुस्वार को परसवर्ण आदेश होता है । इससे उत्तरसूत्र में पदान्तप्रहण के व्यापक से यह सूत्र अपदान्त के लिये है । जैसे—अं + कः = अङ्कः, अं + चनम् = अच्यनम्, वं + टनम् = वण्टनम्, अं + तितः = अन्तितः, णं + ड = चण्डः, क + पनम् = कम्पनम्, इत्यादि । परसवर्ण अर्थात् जिस वर्ग का अक्षर परे हो उसी वर्ग का अनुनासिक वर्ण अनुस्वार के स्थान में हो जाता है । जैसे—कवर्ग के परे पूर्व अनुस्वार के स्थान में ङकार ही होगा, इसी प्रकार सर्वत्र समझना चाहिये ।

१६८—वा पदान्तस्य ॥ ८ । ४ । ५८ ॥

यय् प्रत्याहार के परे पदान्त अनुस्वार को पर का सवर्ण आदेश विकल्प करके होता है । जैसे—कटङ्करोति, कटं करोति; बालभ्वेतयति, बालं चेतयति; ग्रामहटीकते, ग्रामं टीकते; नदीन्तरति, नदीं तरति; प्रजाम्पिपति, प्रजां पिपति; संयन्ता, संयन्ता; सर्ववत्सरः, संवत्सरः; यल्लोकम्, यं लोकम्, इत्यादि ।

॥ इत्यनुस्वारप्रकरणम् ॥

१६९—तोर्लि ॥ ८ । ४ । ५९ ॥

लकार परे हो तो तवर्ग के स्थान में परसवर्ण हो जावे । जैसे—अग्निचित् + लुनाति = अग्निचित्लुनाति, विद्युत् + लेलायते = विद्युल्लेलायते; भवान् + लक्षयति = भवाल्लक्षयति, इत्यादि ।

२००—ङणोः कृक् ङुक् शरि ॥ ८ । ३ । २० ॥

शर् प्रत्याहार परे हो तो पदान्त ङकार एकार को विकल्प करके कुक्, टुक् का आगम यथाक्रम से होता है। जैसे—उदङ्करोते, उदङ् शेते, उदङ्कपठः, उदङ् पठः, उदङ्कसुनोति, उदङ् सुनोति; प्रवण्टरोते, प्रवण्ट शेते; प्रवण्ट्प्वङ्कते, प्रवण्ट्प्वङ्कते; प्रवण्ट्सरति, प्रवण्ट सरति, इत्यादि।

२०१—ङः सि धुट् ॥ ८ । ३ । २६ ॥

जो पदान्त ङकार से परे सकारादि उत्तरपद हो तो उसको विकल्प करके धुट् का आगम होता है। जैसे—अलिट्सीयते, अलिट् सीयते, मधुलिट्सीयते, मधुलिट् सीयते, इत्यादि।

२०२—नश्च ॥ ८ । ३ । ३० ॥

जो पदान्त नकार से परे सकारादि उत्तरपद हो तो उसको धुट् का आगम विकल्प करके होता है। भवान्सनोति, भवान् सनोति, इत्यादि।

२०३—शि तुक् ॥ ८ । ३ । ३१ ॥

जो पदान्त नकार से परे शकारादि उत्तरपद हो तो उसको विकल्प करके तुक् का आगम होता है। जैसे—भवान्च्छेते, भवान्छेते, इत्यादि।

२०४—ङमो ह्रस्वादचि ङमुण् नित्यम् ॥ ८ ।

३ । ३२ ॥

ह्रस्व से परे जो पदान्त ङम् प्रत्याहार उससे परे अजादि उत्तरपद को नित्य ही ङमुट् का आगम होता है अर्थात् ङकार से ङट्, एकार से णट्, नकार से परे नुट् का आगम होता है। जैसे—तिङ् + अतिङ् = तिङ्ङतिङ्, उदङ्ङास्ते, प्रवण्टास्ते, प्रवण्टवोचत्, कुर्वन्नास्ते, तस्मिन् + इति = तस्मिन्निदि, इत्यादि।

२०५—मय उजो वो चा ॥ ८ । ३ । ३३ ॥

जो मय् श्रुत्याहार से परे उब् अव्यय उसको अजादि उत्तरपरद परे हो तो विकल्प करके वकार आदेश होता है। जैसे—शम्-उ-अस्तु, शम्बस्तु, तद्-उ-अस्य, तद्वस्य, किम्-उ-आवपनम्, किम्वावपनम्, इत्यादि।

अब इसके आगे तुक् का आगम लिखते हैं—

२०६—ह्रस्वस्य पिति कृति तुक् ॥ ६ । १ ।

७० ॥

पूर्व ह्रस्व को तुक् का आगम होता है जो पित् कृत् परे हो तो। पुण्यकृत्, अभिचिन्, इत्यादि।

२०७—संहितायाम् ॥ ६ । १ । ७१ ॥

यह अधिकार सूत्र है। उसके आगे जो-जो कहेंगे सो सो संहिता विषय में समझना।

२०८—छे च ॥ ६ । १ । ७२ ॥

जो ह्रस्व से परे छकार हो तो पदान्त और अपदान्त में भी उसको तुक् का आगम होता है^१। जैसे—इ+छति = इच्छति, गच्छति, स्रच्छन्द, देवदत्तच्छत्रम्, इत्यादि।

२०९—आह्माडोरच ॥ ६ । १ । ७३ ॥

जो आह् और माह् से परे छकार हो तो उसको तुक् का आगम होता है। ईपदर्थ, व्रियायोग, मर्यादा, अभिविधि इन अर्थों में आकार कित् आता है। ईपदर्थ—आ+छाया—आच्छाया।

१. इस अर्थ का स्पष्टीकरण इस प्रकार समझना चाहिये—पदान्त और अपदान्त में वर्तमान जो ह्रस्व उसको तुक् का आगम होता है छकार परे रहने पर।

क्रियायोग—आ + छादनम् = आच्छादनम् । मयादा—आ + छायायाः = आच्छायायाः । अभिविधि—आ + छायम् = आच्छायम् । मा + छैत्सीत् = माच्छैत्सीत्, माच्छिदत्, इत्यादि ।

२१०—दीर्घात् ॥ ६ । १ । ७४ ॥

जो अपदान्त अर्थात् एरुपद में दीर्घ से परे छकार हो तो उसको तुक् का आगम होता है । जैसे—ही + छति = हीच्छति, म्लेच्छति इत्यादि ।

२११—पदान्ताद्वा ॥ ६ । १ । ७५ ॥

जो पदान्त दीर्घ से परे छकारादि उत्तरपद हो तो उसको तुक् का आगम विकल्प करके होता है । जैसे—गायत्री छन्दः, गायत्री-च्छन्दः, इत्यादि ।

२१२—वा०—विश्वजनादीनां छुन्दस्युपसंख्या-
नम् ॥ महा० ६ । १ । ७५ ॥

विश्वजन आदि शब्दों से परे छकार को विकल्प करके तुक् का आगम होता है । पूर्व 'छे च' इस सूत्र से ह्रस्व से परे नित्य तुक् प्राप्त था, उसका विकल्प यह समझना चाहिये । जैसे—विश्वजनछत्रम्, विश्वजनच्छत्रम् ।

॥ तुक् प्रकरण पूरा हुआ ॥

२१३—स्तोः श्चुना श्चुः ॥ ८ । ४ । ६६ ॥

सकार और तवर्ग को शकार और चवर्ग के साथ क्रम से शकार और चवर्ग होते हैं । जैसे—विष्णुमित्रस + शोभते = विष्णुमित्रशोभते । सकार का चवर्ग के साथ—जैसे—देवदत्तस् + चलति = देवदत्तश्चलति, इत्यादि । तवर्ग का शकार के साथ—

जैसे—अग्निचित् + शेते = अग्निचिच्छते, इत्यादि । तवर्ग का चवर्ग के साथ—जैसे—अग्निचित् + छादयति = अग्निचिच्छादयति, इत्यादि अनेक उदाहरण हैं ।

२१४—ष्टना ष्टुः ॥ ८ । ४ । ४० ॥

सकार और तवर्ग का षकार और टवर्ग के साथ षकार और टवर्ग होते हैं । जैसे—पुरुषस् + षष्ठ = पुरुषष्पष्ठ इत्यादि, पुरुषस् + टीकते = पुरुषष्टीकते इत्यादि । टवर्ग का सकार के साथ—शूद्रस् + टलति = शूद्रष्टलति, इत्यादि । तवर्ग का टवर्ग के साथ—यापिस् + टलति = योपिटलति, इत्यादि ।

२१५—न पदान्ताद्दोरनाम् ॥ ८ । ४ । ४१ ॥

अनाम् अर्थात् षष्ठी के बहुवचन को छोड़ के पदान्त टवर्ग में उत्तर सकार और तवर्ग को षकार और टवर्ग आदेश न हों । जैसे—पट् सन्ति, मधुलिट् तरति, इत्यादि ।

जो सूत्रकार ने आम् अर्थात् षष्ठी के बहुवचन को छोड़ क ट्व का निषेध किया है उसी में वार्त्तिककार कहते हैं कि—

२१६—घा०—अनाम्नवतिनगरीणामिति

वाक्यम् ॥

महा० ८ । ४ । ४१ ॥

नाम् के निषेध के साथ नवति और नगरी शब्द का भी निषेध कहना चाहिये । जैसे—पट् + नाम् = पण्णाम्, पट् + नवति = वण्णवति, पट् + नगर्य = पण्णगर्य, इत्यादि । सूत्र में 'पदान्त' कह्य इसलिये है कि ईड् + ते = ईद्रे यहा टवर्ग आदेश का निषेध न हुआ । टवर्ग से परे इसलिये है कि निप् + तप्तम् = निष्टप्तम्, सर्पिप् + तप्तम् = सर्पिष्टप्तम्, यहा ट्व हो ही गया ।

२१७—तोपि ॥ ८ । ४ । ४२ ॥

पकार के परे रहने पर तवर्ग को टवर्ग आदेश न हो । जैसे—
योपित् + पण्डः = योपिप्पण्डः, त्यादि ।

२१८—शात् ॥ ८ । ४ । ४३ ॥

शकार से परे तवर्ग को चवर्ग आदेश न हो । जैसे—विश्नः,
प्रभः । यहाँ व्यकार न हुआ ।

२१९—यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा ॥ ८ । ४ । ४४ ॥

जो अनुनासिकादि उत्तरपद परे हो तो पदान्त यर् को
अनुनासिक आदेश विकल्प करके होता है । जैसे—वाक् +
नमति = वाङ्नमति, वाग्रमति । जिस पक्ष में अनुनासिक नहीं
हुआ वहाँ पदान्त में जश् आदेश होता है । त्रिष्टुभ् + नाम =
[त्रिष्टुभ्नाम,] त्रिष्टुभ्नामे । यहाँ पदान्तप्रहण इसलिये है कि
'दम्नोति, क्षुभ्नाति, रुक्मम्' इत्यादि उदाहरणों में नहीं होता ।

२२०—वा०—यरोऽनुनासिके प्रत्यये भाषायां
नित्ये वचनम् ॥

महा० ८ । ४ । ४५ ॥

अनुनासिकादि प्रत्यय परे हो तो यर् को अनुनासिक नित्य ही
होता है, भाषा अर्थात् लौकिक प्रयोग विषय में । जैसे—प्राङ्मयम्,
चिन्मयम्, इत्यादि । यहाँ 'भाषा' प्रहण इसलिये है कि वेद में
पूर्ववत् दो ही प्रयोग हों । जैसे—वाङ्मयम्, वाग्मयम्, इत्यादि ।

२२१—अचो रहाभ्यां द्वे ॥ ८ । ४ । ४५ ॥

अपदान्त में अच् से उत्तर जो रेफ हकार और उनसे उत्तर
जो यर् हो तो उनको विकल्प करके द्वित्व होता है । जैसे—कार् +
यम् = कार्प्यम् कार्यम् ; हर्ष्यनुभवः, हर्ष्यनुभवरः, ब्रह्म, ब्रह्म;

अपहन्नुतिः, अपहनुतिः, इत्यादि । यहां अच् से परे इसलिये कहा है कि—‘रातिह्वेलगति’ यहां द्विवचन न हुआ^१ ।

२२२—अनचि च ॥ ८ । ४ । ४६ ॥

जो अच् से परे और [अनच् अर्थात्] हल के पूर्व य् प्रत्याहार हो उसको विकल्प करके द्वित्व होता है । जैसे—दधि + अत्र = दद्ध्यत्र, दध्यत्र इत्यादि । यहां द्वित्व होकर (२२४) सूत्र से पूर्व धकार को दकार होगया । ‘अच्’ ग्रहण इसलिये है कि ‘स्मितम् स्तुतम्’ इत्यादि में न हो ।

२२३—वा०—द्विवचने यणो मयः ॥

महा० ८ । ४ । ४६ ॥

इस वार्तिक के दो अर्थ हैं^२, एक तो—यण् से परे मय् को [विकल्प करके] द्वित्व होता है और दूसरा—मय् से परे यण् को [विकल्प करके] द्वित्व हो । जहां यण् से परे मय् को द्वित्व होता है वहां, ‘वल्का’ [वल्का;] वल्मीकम्, [वल्मीकम्] इत्यादि उदाहरण बनते हैं । और जहां मय् से परे यण् को द्वित्व होता है वहां, ‘दध्यत्र, [दध्यत्र;] मध्यत्र, [मध्यत्र] इत्यादि उदाहरण बनते हैं ।

२२४—वा०—शरः ख्यः ॥ महा० ८ । ४ । ४६ ॥

१. इस प्रत्युदाहरण में ‘रेफ’ भच् से उत्तर है, परन्तु उसमें उत्तर ‘यर्’ नहीं है ‘द’ से उत्तर ‘यर्’ बकार है परन्तु दकार भच् से उत्तर नहीं है अतः बकार को द्विवचन नहीं हुआ । २. दो अर्थ होने का कारण यह है कि कई आचार्य ‘यणः’ में पञ्चमी और ‘मयः’ में पट्टी विभक्ति मानते हैं । अन्य आचार्य ‘मयः’ में पञ्चमी और ‘यणः’ में पट्टी विभक्ति मानते हैं ।

इस धार्तिक में भी दो मत है^१, एक तो—शर् से परे ख्य को [विकल्प करके] द्विवचन होता है और दूसरा—ख्य से परे शर् को [विकल्प करके] द्विवचन हो । [प्रथम अर्थ में—] जैसे—
 स्थाली, [स्थाली;] स्थाता, [स्थाता,] स्फोटः, [स्फोटः;]
 स्तोतः [स्तोतः;] श्रियोवति, [श्रियोवति, इत्यादि । द्वितीय अर्थ
 में—जैसे—] संगत्सरः, [संवत्सरः]; क्णोरम्, [क्षाग्म्;]
 अप्सराः, [अप्सराः] इत्यादि ।

जो पुत्र शब्द से परे हस्त और जग्ध शब्द हो तो उसको विकल्प करके द्विवचन होता है। जैसे—पुत्रहती, पुत्रहती, पुत्रजग्धी, पुत्रजग्धी, इत्यादि।

२२६—चा०—चयो द्वितीयाः शरि पौष्कर-
सादेः ॥

महा० ८ । ४ । ४० ॥

१ जो शर् प्रत्याहार के परे चय् प्रत्याहार हो तो उसके स्थान में वर्गों के द्वितीयवर्ण आदेश हो जाते हैं, यह पौष्करसादि आचार्य का मत है। [जैसे—] वृशाता—खशाता, वत्सरः—वध्वसरः, अप्सरः—अकसरः, इत्यादि।

२३०—शरोऽचि ॥ ८ । ४ । ४८ ॥

जो अच् परे हो तो शर् प्रत्याहार को द्विवचन न हो। [जैसे—] दर्शनम्, कर्षति, इत्यादि। यहां 'अच्' ग्रहण इसलिये है कि 'दर्श्यते' इत्यादि में निषेध न हो।

२३१—त्रिप्रभृतिषु शाकटायनस्य ॥ ८ । ४ । ४९ ॥

जहां तीन आदि वर्ण इकट्ठे हों वहां शाकटायन आपार्थ के मत से द्विवचन न हो। जैसे—इन्द्रः, चन्द्रः, वट्टः, राष्ट्रम्, इत्यादि।

२३२—सर्वत्र शाकट्यस्य ॥ ८ । ४ । ५० ॥

जहां-जहां द्विवचन कह आये है वहां-वहां शाकट्य आचार्य के मत से [द्विवचन] न होना चाहिये। जैसे—अर्कः, ब्रह्मा, दध्यत्र, मध्यत्र, इत्यादि।

२३३—दीर्घादानार्याणाम् ॥ ८ । ४ । ५१ ॥

सय आचार्यों के मत से दीर्घ से परे यर् को द्विर्वचन न होना चाहिये । जैसे—दात्रम्, पात्रम्, स्तोत्रम् इत्यादि ।

२३४—भृशं जश् भृशि ॥ ८ । ४ । ५२ ॥

जो भृश प्रत्याहार परे हो तो भृशों के स्थान में जश् आदेश होता है । जैसे—लभ+धा = लब्धा, दोघ्+धा = दोग्धा, ददुभ्यत्र, इत्यादि । यहां 'भृश' ग्रहण इसलिये है कि 'दत्तः, आत्थ' इत्यादिकों में न हो ।

२३५—खरि च ॥ ८ । ४ । ५४ ॥

जो खर प्रत्याहार परे हो तो खरों को चर् आदेश हों । जैसे—भेद्+ता = भेत्ता, लिभ्+सा = लिप्ता, युयुध्+सते = युयुत्सते इत्यादि ।

२३६—उदः स्थास्तम्भोः पूर्वस्य ॥ ८ । ४ । ६० ॥

उद् से परे स्था और स्तम्भ धातु के सकार के स्थान में पूर्व का सवर्णी आदेश होता है । जैसे—उद्+स्थानम् = उत्थानम् । यहां एक थकार को पूर्व सूत्र (२३५) से तकार हो जाता है । उत्थाता, उत्थातुम्, उत्थातव्यम् । उद्+स्तम्भनम्—उत्तम्भनम्, उत्तम्भिता, उत्तम्भितुम्, उत्तम्भितव्यम् इत्यादि । 'स्थास्तम्भ' का ग्रहण इसलिये है कि 'उद्+स्तम्भोति—उत्स्तम्भोति' इत्यादि में न हुआ ।

२३७—वा०—उदः पूर्वत्वे स्कन्देरलुन्दस्यपसं-
ख्यानम् ॥

महा० ८ । ४ । ६० ॥

१. कई ध्याख्याकार बहुवचनान्त 'आचार्याणाम्' पद से पाणिनि के आचार्य का ग्रहण मानते हैं । खीणताद्वित में 'आदाचार्याणाम्' (कमाट्ट २१) की टिप्पणी में लिखा है—'यहां आचार्य शब्द के बहुवचन निर्देश से पाणिनि के आचार्य का मत समझना चाहिये' ।

वैदिक प्रयोगों में उद् उपसर्ग से परे स्कन्द धातु को पूर्वसवर्ण आदेश हो। जैसे—अन्ये दूरमुत्कन्दः। यहां 'उद् + स्कन्द' सकार को पूर्वसवर्ण सकार होकर 'उत्कन्दः' ऐसा होता है।

२३८—वा०—रोगे चेति वक्तव्यम् ॥

महा० ८।४।६० ॥

रोग अर्थ में भी [उद् उपसर्ग से परे] स्कन्द को पूर्व सवर्ण आदेश हो जावे। जैसे—उत्कन्दो रोगः।

२३९—भूयो होऽन्यतरस्याम् ॥ ८।४।६१ ॥

भूय प्रत्याहार से परे हकार को पूर्वसवर्ण आदेश विकल्प करके होता है। जैसे—वर्ग से परे हो तो वकार—वाग् हसति, वाग्घसति। टवर्ग से परे हो तो टकार—लघट् हन्ता, लघट्ढन्ता। तवर्ग से परे हो तो धकार—अभिचित् हसति, अभिचिद्धसति। पवर्ग से परे हो तो भकार होता है—त्रिष्टुप् हसति, त्रिष्टुब्भसति इत्यादि। यहां 'भूय' ग्रहण इसलिये है कि 'भवान् हसति' इत्यादि में न हो।

२४०—शरल्लोऽटि ॥ ८।४।६२ ॥

जो भूय से परे और अट् प्रत्याहार के पूर्व शकार हो ता उसको छकार आदेश विकल्प करके होता है। जैसे—वाक् छेते, वाक् शेते, मधुलिट् छेते, मधुलिट् शेते, त्रिष्टुप् छेते, त्रिष्टुप् शेते इत्यादि।

२४१—चा०—छत्वममीति वक्तव्यम् ॥

महा० ८।४।६२ ॥

जो अम् प्रत्याहार परे हो तो भी भूय से परे शकार को छकार आदेश होता है। जैसे—तत् शलोकेन, तच्छ्लोकेन, तत् श्मश्रु तच्छ्मश्रु इत्यादि।

२४२—हलो यमां यमि लोपः ॥ ८ । ४ । ६३ ॥

हल से परे यम् का लोप विकल्प करके होता है जो यम् परे हो तो । जैसे—‘शय्या’ । यहां तीन यकार हैं इन में से मध्यस्थ यकार का लोप होकर—‘शय्या’ । दध्यत्र ^१ यहां भी वैकल्पिक लोप होकर दध्यत्र इत्यादि । ‘हल्’ ग्रहण इसलिये है कि ‘वित्तम्’ यहां न हुआ । यम् का लोप इसलिये कहा है कि—‘अग्निः’ यहां लोप न हुआ । और यम् परे इसलिये है कि ‘शार्ङ्गम्’ यहां न हुआ । [यहां यम् से यथासंख्य यम् परे रहने पर लोप होता है, इसलिये ‘माहात्म्य’ में मकार का लोप नहीं होता] ।

२४३—भरु भरि सवर्णे ॥ ८ । ४ । ६४ ॥

जो सवर्णी मर परे हो तो हल् से परे मर का लोप विकल्प करके होता है । जैसे—‘प्रतृत्तम्’, ‘अवन्तृत्तम्’ । यहां चार तकार होते हैं । तीन प्रथम ही हैं और एक पीछे द्विवचन होने से हो जाता है, इन में से एक वा दो का लोप होकर—‘प्रतृत्तम्’, ‘प्रत्तम्’, ‘अवन्तृत्तम्’, ‘अवत्तम्’ । ‘उत्थानम्’ यहां भी एक तकार का लोप विकल्प करके हो जाता है—‘उत्थानम्’ इत्यादि ।

॥ इति हलसन्धिः ॥

१. यहां ‘अनवि च’ (सन्धि० २२२) से द्विवचन होता है ।
२. यहां ‘द्विवचने यणो मयः’ (सन्धि० २२३) से द्वित्व होता है ।
३. यहां प्र और अव पूर्वक दा धातु को त परे रहने पर ‘अव उपसर्गात् तः’ (भा० १२२३) से तकारादेश होता है—‘प्र+तृ+तृ+त’ । दकार को ‘धरि च’ (सन्धि० २३५) से तकार होकर—‘प्रतृत्त’ । पुनः ‘अनवि च’ (सन्धि० २२२) से द्वितीय तकार को द्विवचन होकर चार तकार होते हैं । ४. उद्+स्थानम् । तकार को यकार और यकार को तकार होता है ।

अथ अयोगवाहसन्धिः



अब इसके आगे अयोगवाहसन्धि का प्रकरण लिखा जाता है—

२४४—ससजुपो रुः ॥ ८ । २ । ६६ ॥

जो पदान्त सकार और सजुप् शब्द का मूर्धन्य पकार है उसको रु आदेश होता है। पदान्ते दो प्रकार का होता है, एक जो अवसान में अथात् जिससे आगे कोई पद वा अक्षर न हो और दूसरा उत्तरपद के परे भी पदान्त कहाता है। इसमें से [जो] अवसान में सकार को रु होता है उसका विषय नामिक पुस्तक में आवेगा। यह अयोगवाह [सन्धि का] प्रकरण है, यहाँ शब्दों की मिलावट दिखलाई जाती है। यह रु आदेश सब दन्त्य सकारान्त शब्दों का होता है, इसलिये सजुप् शब्द के मूर्धन्य पकार को रु विधान किया है। पदान्त सकार भी दो प्रकार का होता है, एक स्वरान्त शब्दों से विभक्ति का सकार और दूसरा जो प्रथम से ही सकारान्त होते हैं। विभक्ति से सकारान्त—जैसे—पुरुष-सु, इत्यादि। प्रथम से सकारान्त—जैसे—मनस्, पयस्, धनुप्, हविष् इत्यादि।

अब इस पदान्त सकार को रु आदेश होकर पीछे क्या-क्या कार्य होता है सो क्रम से लिखते हैं—

२४५—एतत्तदोः सुलोपोऽकोरनञ्समासे हलि॥

६ । १ । १३० ॥

जो एतद् और तद् शब्द ककाररहित और नञ्समास में वर्तमान नहीं हैं उन के सु का लोप होता है हल् प्रत्याहार परे हो मो। जैसे—स पठति, एष गच्छति इत्यादि। यहाँ ककार का

निषेध इसलिये है कि 'एषको गच्छति, सको व्रते' यहां न हुआ । नञ्समास में निषेध इसलिये है कि 'अनेपो दधाति, असो याति' इत्यादि में न हो । 'हल्' ग्रहण इसलिये है कि 'एषस् + अत्र = एषोऽत्र, सस् + अत्र = सोऽत्र' यहां 'सु' का लोप न हो ।

२४६—स्थरछन्दसि बहुलम् ॥ ६ । १ । १३१ ॥

वैदिक प्रयोगों में हल् प्रत्याहार परे हो तो त्यद् शब्द के सु का लोप बहुल करके हो । जैसे—स्य ते शुभां इन्द्र सोमः । बहुल ग्रहण से यहां नहीं भी होता यत्र स्यो निपतेत् । यहां 'छन्दसि' इसलिये कहा है कि लोक में न हो—स्यो हसति, स्यो धावति इत्यादि ।

२४७—सोऽधि लोपे चेत् पादपूरणम् ॥

६ । १ । १३२ ॥

जो अजादि उत्तरपद परे हो तो त्यद् शब्द के सु का लोप होता है, परन्तु लोप होने से छन्दों के पाद की पूर्ति होती हो तो । जैसे—सेमन्नो अभ्वरं यज । यहां जब 'सस् + इमम्' पद के परे लोप नहीं पाया था सो लोप होकर गुण एकादेश हो गया, तब 'सेमम्' ऐसा हुआ, जो न होता तो नव अतरो के होने से पाद भी पूर्ण नहीं होता । लोक में—सैष शूद्रो महाबली । यहां भी 'सस् + एषस्' इस अवस्था में विभक्ति के सकार का लोप होकर वृद्धि एकादेश हो जाता है । यहां 'पादपूरण' इसलिये है कि—'स इव न्याग्रो भवेत्' यहां न हो ।

अब इन दो सूत्रों से जहां सकार का लोप नहीं होता वहां खरादि उत्तरपदों के परे द को क्या-क्या होता है सो क्रम से लिखते हैं—

२४८—अतो रोरप्लुतादप्लुते ॥ ६ । १ । १११ ॥

जो अप्लुत ह्रस्व अकार से अप्लुत [ह्रस्व] अकार परे हो तो रु के स्थान में उकार आदेश होता है। जैसे—पुरुषर्+अत्र = पुरुषोऽत्र, मनर्+अर्पय = मनोऽर्पय, इत्यादि। अप्लुत से परे इसलिये है कि 'सुओता'३ अत्र त्वमसि' यहा उक्तादेश न हो। अप्लुत परे हो इसलिये है कि 'विष्टु पय आ'३मिदत्त' यहा न हो।

अब जहा अवर्णान्त वा अन्य स्वरान्त शब्दों से परे 'रु' हो और चत्वारपद में अश् प्रत्याहार तो क्या होना चाहिये इस विषय में लिखते हैं—

२४९—भोभगोअघोअपूर्वस्य योऽशि ॥ ८ ।

३ । १७ ॥

जो भोस्, भगोस्, अघोस् और अवर्णपूर्वरु रु से परे अश् प्रत्याहार हो तो रु के स्थान में 'य्' आदेश हो जाता है। जैसे—भोय+अत्र = भो अत्र, भगोय्+इह = भगो इह, अघोय्+उत्तिष्ठ = अघो उत्तिष्ठ। अकार से परे आकार के पूर्व—पुरुषय्+आगच्छति = पुरुष आगच्छति। आकार से परे अकार के पूर्व—माह्वयाय्+अविदु = माह्वया अविदुः।

अब जो रु के स्थान में 'य्' आदेश हुआ है इसका क्या होना चाहिये सो लिखते हैं—

२५०—व्योर्लघुप्रयत्नतरः शाकटायनस्य ॥

८ । ३ । १८ ॥

जो अवर्ण से परे यकार वकार है उसको लघुप्रयत्नतर आदेश हो, शाकटायन आचार्य के मत में। जिसके चत्वारण में बहुत थोड़ा बल पड़े वह लघुप्रयत्नतर कहाता है। 'पचोऽयवायाच'१ इस

सक्त सूत्र से पदान्त में जो अय आदि आदेश होते हैं वे तथा जो पूर्व सूत्र ३६ के स्थान में यकारादेश होता है उन सब यकार वकारों का यहां ग्रहण है। पुरुषयागच्छति, पुरुषयिह, ब्राह्मणाय-विदुः इत्यादि। अय् [आदि] आदेश—के आसते=कयासते, वायो आयाहि=वायवायाहि, श्रियै उद्यतः=श्रियायुद्यतः, असौ आदि-त्यः=असावादित्यः। जो यह लघुप्रयत्नतर आदेश होता है सो उदाहरणों में बहुत कम आता है।

अब जहां लघुप्रयत्नतर आदेश नहीं होता वहां क्या होता है, सो दिखलाते हैं—

२५१—लोपः शाकल्यस्य ॥ ८ । ३ । १६ ॥

जो अवर्ण से परे और अश प्रत्याहार के पूर्व पदान्त यकार वकार हों तो उनका विकल्प करके लोप होता है, शाकल्य आचार्य के मत में। जैसे—पुरुषय् आगच्छति=पुरुष आगच्छति, पुरुषयागच्छति; ब्राह्मणाय् अविदुः=ब्राह्मणा अविदुः, ब्राह्मणायविदुः; कय् आसते=क आसते, कयासते; गृह्य् आसते=गृह आसते, गृहयासते; वायव् आयाहि=वाय आयाहि, वायवायाहि; पादाव् उच्येते=पादा उच्येते, पादावुच्येते; हरय् पदि=हर पदि, हरयेहि; विष्णव् इह=विष्ण इह, विष्णविह इत्यादि।

२५२—ओतो गार्ग्यस्य ॥ ८ । ३ । २० ॥

अश प्रत्याहार परे हो तो ओकार से परे जो रु को य् होता है उसका नित्य ही लोप होवे। गार्ग्य का ग्रहण पूजार्थ है। भोय्+अत्र=भो अत्र, भगोय्+इह=भगो इह, अघोय्+इह=अघो इह।

२५३—उजि च पदे ॥ ८ । ३ । २१ ॥

उज् पद के परे अवर्ण के आगे जो पदान्त यकार वकार हों तो उनका नित्य लोप हो जावे। जैसे—सय् च प्राणस्य शणः=स

उ प्राणस्य प्राण, क्य् उ स्विजायत पुन = क उ स्विजायते पुन,
 क्य् उ सन्ति = क उ सन्ति, वाय्व् उ वाति = वाय उ वाति,
 'श्रियाय् उ यतते = श्रिया उ यतते इत्यादि ।

सजुप् आदि शब्दों को ह विधान कर चुके हैं । उससे उत्तरपद
 में जो स्वर होगा तो रेफ उस में मिल जावेगा । और जो हल् वर्ण
 आवेगा तो उसके ऊपर रेफ चढ़ जावेगा । स्वर में—सजूरन्, सजू-
 रिह इत्यादि । यहाँ रेफान्त की उपधा को पदान्त में दीर्घ आदेश
 हो जाता है । परन्तु ऋकार के परे रेफ ऊपर ही चढ़ जाता है
 सजूर्ऋपि, वायुर्ऋच्छति इत्यादि । अमिर् + अत्र = अमिरन्,
 अमिर + आनीयते = अमिरानीयत इत्यादि ।

जो अश् प्रत्याहार में स्वरों से भिन्न वर्ण रहें ता वहा क्या होना
 चाहिये सा निश्चित है—

२५४—हृशि च ॥ ६ । १ । ११२ ॥

ह्रस्व अकार से परे ह के रेफ को उकार आदेश होता है जो
 हृश् प्रत्याहार परे हो तो । जैसे—पुरुष + उ + हसति । उकार के
 साथे गुण एकादेश होकर—पुरुषो हसति इत्यादि ।

२५५—एलि सर्वेषाम् । ८ । ३ । २२ ॥

हल् प्रत्याहार क परे भा, भगो, अपो और अयर्ण जिसके पृथे

१ यहाँ 'समान' उपपद होने पर 'ठप्' धातु से त्रिप् प्रत्यय
 होता है । 'समानस्य षष्ठ्यस्य०' (सा० २२१) सूत्र से समान को 'त'
 आदेश होता है । 'घोरुपधाया दीर्घ इका' (भा० १४६) स उपधा
 को दीर्घ होता है । २ यहाँ 'भोमगोभपोभपृदंत्य योऽणि' (सन्धि०
 २४९) स 'य्' आदेश होता है, परन्तु उसको असिद्ध मानकर 'इति च'
 से उच्य हो जाता है ।

हो उस यकार का लोप सब आचार्यों के मत में हो। भोय्+
हसति=भो हसति, भगोय् हसति=भगो हसति, अघोय्+
हसति=अघो हसति। आकारान्त से—पुरुषाय्+हसन्ति=पुरुषा
हसन्ति, बालाय्+नन्दन्ति=बाला नन्दन्ति, चन्द्रमाय्+वर्धते=
चन्द्रमा वर्धते इत्यादि। हश्मात्र में इस सूत्र की प्रवृत्ति होती है।
यहां हल्ग्रहण उत्तर सूत्रों के लिये है क्योंकि यहां हश् प्रत्याहार से
हां प्रयोजन है।

जब इकार आदि खरों से परे रु हो और हश् प्रत्याहार उत्तर-
पद में आवे तो रु का रेफ उत्तर वर्ण के ऊपर चढ़ जाता है। जैसे—
सजूर्देवेन, सजूर्याति, अग्निर्वहति, धातुर्वाति, गौर्धावति इत्यादि।

हश् प्रत्याहार में रेफ भी आता है उसके परे क्या होना चाहिये
सो लिखते हैं—

२५६—रो रि ॥ ८ । ३ १४ ॥

जो रेफ ढे परे रेफ हो तो पूर्व रेफ का लोप होता है। जैसे—
प्रात्+रत्तम्=प्रात रत्तम्, निर्+रत्तम्=नि रत्तम्, गुरुर्+
राजते=गुरु राजते।

अब लोप होकर क्या होना चाहिये सो लिखते हैं—

२५७—दूलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः ॥ ६।३।१११॥

जहां रेफ, ढकार का लोप हो वहां उस रेफ, ढकार से पूर्व
अण को दीर्घ आदेश हो जावे। दीर्घ होकर—प्रातारत्तम्,
नोरत्तम्, गुरु राजते इत्यादि।

२५८—ढो ढे लोपः ॥ ८ । ३ । १३ ॥

ढकार के परे ढकार का लोप हो। जैसे—लिह्+क्त+सु=

लिङ् + ढम् = लिङम्, गुह् + क्त + सु = गुह् + ढम् = गुहम् ।
यहां ढकार के लोप में भी पूर्व अण को दोषे होकर 'लीङम्,
गूढम्' इत्यादि सदाहरण होते हैं ।

अब हलादि वर्णों में खर् प्रत्याहार के परे रु को क्या होना
चाहिये सो लिखते हैं—

२५६—स्वरचसानयोर्विसर्जनीयः ॥ ८। ३। १५ ॥

खर् प्रत्याहार के परे और अवसान में रेफ के स्थान में
विसर्जनीय आदेश होता है । जैसे—नद् + जस् + स्रवन्ति = नद्यः
स्रवन्ति, पुरुष + सु + शेते = पुरुषः शेते इत्यादि । स्वाभाविक
रेफ—गीः स्रवति, धूः सरति ।

खर् प्रत्याहारमात्र में विसर्जनीय होकर क्या-क्या होता है सो
आगे लिखते हैं—

२६०—विसर्जनीयस्य सः ॥ ८। ३। ३४ ॥

खर् प्रत्याहार के परे विसर्जनीय को सकार आदेश होता है ।
[यह आदेश] च, छ, ठ, थ, ड, त इन छ, वर्णों [के परे
होता है] खर् प्रत्याहार में जो अन्य वर्ण रहे उनके परे दूसरा
कार्य कहेंगे । पुरुषस् + चेतति = पुरुषश्चेतति, सजुस् + चेतति =
सजुश्चेतति, सजुस् + क्षिनत्ति = सजुर्क्षिनत्ति, वासस् = व्हादयति =
वासश्चादयति । यहां विसर्जनीय को सकार होकर (२१३)
सूत्र से श होता है । उक्त्यकारः, पुरुषस्तरति, उक्तस् + ढकारः =

१. हो ढः (आ० २०३) से घानु के हकार को ढकार
'क्षपस्तयोर्धोऽधः' (आ० १४१) से प्रत्यय के सकार को धकारादेश
और 'धुना धुः' (सन्धि० २१४) से घकार को ढकार होता है—
लिङ् + ढढ ।

बालः कणति इत्यादि । जिस पक्ष में जिह्वामूलीय उपध्मानीय आदेश नहीं होते उस पक्ष में विसर्जनीय ही रहते हैं ॥

२६५—सोऽपदादौ ॥ ८ । ३ । ३८ ॥

जो अपवादि अर्थात् एक पद में कवर्ग पवर्ग परे हों तो विसर्जनीय के स्थान में सकार आदेश हो जाता है । जैसे—यशः+कल्पम्=यशस्कल्पम्, पयः+कल्पम्=पयस्कल्पम्, अयः+पाशम्=अयस्पाशम्, अन्धः+पाशम्=अन्धस्पाशम् इत्यादि । यहा कल्पप्, पाशप् प्रत्ययों के परे रु के विसर्जनीय को सकार हुआ है ।

यहां से आगे जो पूर्व सूत्र से जिह्वामूलीय, उपध्मानीय आदेश होते हैं उन्हीं के अपवाद सब सूत्र समझना ।

२६६—वा०—सोऽपदादावनव्ययस्य ॥

॥ महा० ८ । ३ । ३८ ॥

जो अपवादि कवर्ग पवर्ग में विसर्जनीय को सकारादेश कहा है वह अव्यय के विसर्जनीय को न हो । जैसे—प्रातःकल्पम्, पुनःकल्पम् इत्यादि ।

२६७—रोः काम्ये नियमार्थम् ॥

॥ महा० ८ । ३ । ३८ ॥

जहां काम्यच् प्रत्यय के परे विसर्जनीय को सकारादेश होता है वहां रु के रेफ का विसर्जनीय हो तो सकारादेश हो । जैसे—

१. कल्पप्—इपदसमासौ कल्पन्देयदेशीयर. (श्रौ० ७९०) सूत्र से और पाशप्—याप्ये पाशप् (श्रौ० ७७०) सूत्र से होता है ।

२. सोऽपदादौ (सन्धि० २६५) सूत्र से ।

पयस्काम्यति, यशस्काम्यति । यहाँ] न हो । जैसे—गी 'काम्यति', पू 'काम्यति' ।

२६८—इणः पः ॥ ८ । ३ । ३६ ॥

इण प्रत्याहार से उत्तर जो विसर्जनीय उसको मूर्धन्य पकार आदेश हो अपवादि कवर्ग पवर्ग परे हो तो । जैसे—हविष्काम्यति, सजूष्कल्पम्, दोष्कल्पम्, हविष्पाशम् दोष्पाशम् । यहाँ अपवादि की अनुवृत्ति करने का यह प्रयोजन है कि 'गुरु' पाठयति' यहाँ सकारादेश न हो । कवर्ग पवर्ग की अनुवृत्ति इसलिये आती है कि 'सर्पिस्ते, धनुस्ते' यहाँ मूर्धन्य न हो ।

अब यहाँ से आगे अवर्ण से परे विसर्जनीय को सकार और इण् प्रत्याहार से परे उसको मूर्धन्य आदेश सब सूत्रों में कहेंगे, ऐसा अधिकार समझना ।

२६९—नमस्पुरसोर्गत्योः ॥ ८ । ३ । ४० ॥

जो कवर्ग और पवर्ग परे हों तो गतिसङ्ग नमस् और पुरस् शब्दों के विसर्जनीय को सकार आदेश होता है । नमः + कर्ता = नमस्कृता, नमः + कृत्य = नमस्कृत्य, पुरस्कृता, पुरस्कृत्य इत्यादि ।

२७०—इदुदुपधस्य चाऽप्रत्ययस्य ॥ ८ । ३ । ४१ ॥

इकार वा उकार जिसकी उपधा में हैं उस प्रत्ययभिन्न शब्द के विसर्जनीय को पकार होता है । जैसे—निर् + कृतम्—निष्कृतम्, निर् + पीतम्—निष्पीतम्, दुर् + कृतम्—दुष्कृतम्, दुर् + पीतम्—दुष्पीतम्, आविस् + कृतम्—आविष्कृतम्, प्रादुस् + कृतम्—

१ भाष्यनो गिरमिच्छति—गी काम्यति 'काम्यच्' (आ० ५८०) से काम्यच् प्रत्यय होता है ।

प्रादुक्कृतम् । इत्यादि । यहां 'अप्रत्यय' ग्रहण इसलिये है कि 'वायुः पाति' यहां पकार आदेश न हो ।

२७१—वा०—पुम्मुहुसोः प्रतिषेधः ॥

महा० ८ । ३ । ४१ ॥

पुम् और मुहुस इन शब्दों में भी अप्रत्यय के विसर्जनीय हैं, यहां इस उक्त सूत्र से विसर्जनीय को पकाराऽऽदेश न हो । जैसे—पुंस्क्रामः, मुहुःक्रामः । यहां विसर्जनीय को पकार न हो ।

२७२—तिरसोऽन्यतरस्याम् ॥ ८ । ३ । ४२ ॥

गतिसंज्ञक तिरस् शब्द के जो विसर्जनाय [हैं] उनका कवर्ग पवर्ग के परे सकारादेश विकल्प करके होता है । पक्ष में विसर्जनीय रह जावेंगे । [जैसे—] तिरस्कृतम्, तिरःकृतम्; तिरस्कृता, तिरःकृता; तिरस्कृत्य, तिरःकृत्य; तिरष्पिषति, -तिर पिषति । गतिग्रहण इसलिये है कि 'तिरः कृत्वा' यहां सकारादेश न हो ।

२७३—द्विस्त्रिचतुरिति कृत्वाऽर्थे ॥ ८ । ३ । ४३ ॥

कृत्वमुच् प्रत्यय के अर्थ में वर्तमान जो द्वि, त्रि और चतुर, शब्द इनके विसर्जनीय को पकार आदेश विकल्प करके हो कवर्ग पवर्ग परे हो तो । [जैसे—] द्विष्करोति, द्विःकरोति; त्रिष्करोति, त्रिःकरोति; चतुष्करोति, चतुःकरोति; द्विष्पठति, द्विःपठति; त्रिष्पठति, त्रिःपठति; चतुष्पठति, चतुःपठति इत्यादि । यहां 'कृत्वाऽर्थे' ग्रहण इसलिये है कि 'चतुष्कपालम्, चतुष्कण्ठम्, चतुष्पथम्' इत्यादि में विकल्प न हो ।

२७४—इसुसोः सामर्थ्ये ॥ ८ । ३ । ४४ ॥

यहां विकल्प की अनुवृत्ति आती है । जो सामर्थ्य विदित होता हो तो कवर्ग पवर्ग के परे इस्-ठम् प्रत्ययान्त शब्दों के विस-

जर्जनीय को प्रकारादेश विकल्प करके होता है। जैसे—हविष्करोति, हविः करोति, सर्पिष्करोति, सर्पिः करोति; ज्योतिष्पश्यति, ज्योतिः पश्यति; यजुष्पठति, यजुः पठति इत्यादि। यहां 'सामर्थ्य' ग्रहण इसलिये है कि 'तिष्ठतु सर्पिः करोतु बलमन्नम्' इत्यादिकों में सापेक्ष होने से प्रकारादेश न हुआ।

२७५—नित्यं समासेऽनुत्तरपदस्थस्य ॥ ८३॥ ४५॥

जो कवर्ग पवर्ग के परे समास में अनुत्तरपदस्थ अर्थात् उत्तर-पद में इस् वस् न हो तो इस् वस् प्रत्ययान्त शब्दों के विसर्जनीय को नित्य प्रकार आदेश हो जावे। जैसे—सर्पिष्कुण्डिका, सर्पिष्पात्रम्, धनुष्करः इत्यादि। यहां 'अनुत्तरपदस्थ' ग्रहण इसलिये है कि 'सुसर्पिःपानम्, सुसर्पिःकुण्डिका' इत्यादि में प्रकारादेश नहीं हुआ।

२७६—अतः कृकमिकंसकुम्भपात्रकुशाकर्णी-
प्वनव्ययस्य ॥ ८४॥ ३॥ ४६॥

[समास] में जो अकार से परे अव्यय का छोड़कर अनुत्तर-पदस्थ विसर्जनीय को कृ और कमि धातु तथा वंस, कुम्भ, पात्र, कुशा और कर्णी शब्द परे हों तो सकार आदेश हो। जैसे—अयस्कारः, अयस्कामः, अयस्वसः, पयस्कुम्भः, पयस्कूर्मा। यहां स्त्रीलिङ्ग में भी होता है। पयस्पात्रम्, अयस्कृशा, अयस्कूर्णा। यहां अकार से परे ग्रहण इसलिये है कि 'भी.कारः, पू.कारः' यहां सकार न हो। तपरकरण इसलिये पदा है कि 'भा.कामः' यहां न हो। और 'अव्यय' का निषेध इसलिये है कि—अन्तःकरणम्, प्रातःकालः,

१. प्रातिपदिकग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहण भवति (पाठि० १२)
इस नियम में यहां भी सकारादेश होता है।

पुनःकरोतु । समास इसलिये है कि 'यशः करोति' यहां न हो ।
अनुत्तरपदस्थ इसलिये है कि 'सुवचः कामः' यहां न हो ।

२७७-अधःशिरसी पदे ॥ ८ । ३ । ४७ ॥

जो समास में पद शब्द परे हो वो अधस् शिरस् के अनुत्तर-
पदस्थ विसर्जनीय को सकार आदेश होता है । [जैसे—] अध-
स्पदम्, शिरस्पदम्, अधस्पदी, शिरस्पदी । यहां समासग्रहण इसलिये
है कि 'अधः पदम्' यहां न हो । अनुत्तरपदस्थ ग्रहण इसलिये है कि
'परमशिरःपदम्' यहां सकारादेश न हुआ ।

२७८-कस्कादिषु च ॥ ८ । ३ । ४८ ॥

जो-जो शब्द कस्क आदि गण में पड़े हैं उनके विसर्जनीय को
यथालिखित सकार वा पकार आदि जानना चाहिये । यहां भी एक
पद से परे विसर्जनीय और उत्तरपद में कवर्ग पवर्ग पर लिये जाते
हैं । जैसे-क + कः = कस्कः, कौतुस्कृतः, भ्रातृपुत्रः, शुनस्कर्णः,
सद्यस्कालः, सद्यस्त्री, सायस्कः, कांस्काम्, सर्पिष्कुण्डिका, धनुष्क-
पालम्, बहिष्पूलम्, यजुष्पात्रम्, अयस्काण्डः, मेदस्पण्डः इति ॥

२७९-छन्दसि चाऽग्रामेऽदितयोः ॥ ८ । ३ । ४९ ॥

जो ऋ और आग्नेडित को छोड़कर कवर्ग पवर्ग पर हों तो वेद
में विकल्प करके विसर्जनीय को सकारादेश होता है । जैसे-अयः-
पात्रम्, अयस्पात्रम् । यहां ऋ और आग्नेडित का निषेध इसलिये
है कि 'इन्द्राय सोमाः प्रदिवो दिवानाः' आग्नेडित-'पुरुषः पुरुषः
परि' इत्यादि में सकारादेश न हुआ ।

२८०-कःकरत्करतिकृधिकृतेष्वनदितेः ॥

८ । ३ । ५० ॥

कः, करत्, करति, कृधि, कृत इनके परे वेदों में अदिति शब्द

को छोड़ कर सब शब्दों के विसर्जनीय को सकारादेश होता है ।
[जैसे—] विभ्रतस्कः, विभ्रतस्करत्, यशस्करति, विभ्रतस्क्रुधि,
अधस्क्रुतम्, सहस्क्रुतम् इत्यादि । पूर्वसूत्र से सर्वत्र त्रिकल्प करके
प्राप्त था, इसलिये यह सूत्र नियमार्थ किया है । यहां अदिति का
निषेध इसलिये है कि 'यथा नो अदितिः करत्' यहां सकारादेश
न हुआ ।

२८१-पञ्चम्याः पराचध्यर्थे ॥ ८ । ३ । ५१ ॥

वेदों में जो अधि के अर्थ का परि उपसर्ग परे हो तो पञ्चमी के
विसर्जनीय को सकारादेश होता है । जैसे-विश्वतस्परि, दिवस्परि,
इत्यादि । यहां 'पञ्चमी' का ग्रहण इसलिये है कि 'या गौः पर्येति'
इत्यादि में नहीं होता । 'परि' इसलिये है कि 'लोकेश्वरः प्रजापतिः
समैरयत्' इत्यादि में न हो । 'अध्यर्थे' इसलिये है कि 'दिवः पृथि-
व्याः पर्योज उद्भूतम्' इत्यादि में न हो ।

२८२-पातौ च बहुलम् ॥ ८ । ३ । ५२ ॥

वेदों में पाति धातु के प्रयोग परे हों तो कहीं-कहीं पञ्चमी के
विसर्जनीय को सकारादेश होता है । जैसे-दिवस्पातु, राजस्पातु,
पृक्स्थस्पातु, इत्यादि । कहीं कहीं नहीं भी होता—परिपदः पातुः
इत्यादि ।

२८३-पष्ठ-याः पतिपुत्रपृष्ठपारपदपथस्पोषेषु ॥

८ । ३ । ५३ ॥

वेदों में जो पति, पुत्र, पृष्ठ, पार, पद, पथम् और पोष परे हो तो
पञ्चमी के विसर्जनीय को सकारादेश होता है । जैसे—'याचस्पतिः',
दिवस्पुत्राय सूर्याय, दिवस्पृष्ठे, पृथिव्यास्पृष्ठे, तमसस्पारम्, इहस्पदे
समिधाय, सूर्यं चक्षुर्दिवस्पथः, रायस्पोषेण समिधामदन्तः । यहां 'पठौ'
ग्रहण इसलिये है कि 'अनुः पुत्रेभ्यो दायं टागजन्' यहां न हुआ ।

२८४—इडाया वा ॥ ८ । ३ । ५४ ॥

जो वेदों में पूर्वसूत्रोक्त पति आदि शब्द परे हों तो इडा शब्द की पठा के विसर्जनीय को विकल्प करके सकारादेश होता है। जैसे—इडायास्पतिः, इडायाः पतिः इत्यादि।

२८५—अमनरूधरधरित्युभयथा च्छन्दसि ॥

८ । २ । ७० ॥

अमनस, ऊधस, अवस इन शब्दों के सकार को र आदेश विकल्प करके होता है। जैसे—अमनस+एव=[अन्न एव], अमनरेव। ऊधस+एव=[ऊध एव,] ऊधरेव। अवस+एव=[अव एव], अवरेव इत्यादि। [पस में रेफ आदेश होता है]

२८६—अहन् ॥ ८ । २ । ६८ ॥

अहन् शब्द को [पदान्त में] र आदेश होता है। अहन्+भ्याम्=अहोभ्याम्। इस सूत्र पर यह वार्तिक है—

२८७—वा०—रुत्वविधावहोरूपरात्रिरथन्तरे-
पूपसंख्यानम् ॥

महा० ८ । २ । ६८ ॥

हरत्वविधि प्रकरण में रूप, रात्रि और रथन्तर शब्दों के परे अहन् शब्द के नकार को र आदेश होता है। जैसे—अहन्+रूपम्=अहोरूपम्, अहन्+रात्रिः—अहोरात्रि, अहन्+रथन्तरम्=अहोरथन्तरम्।

[कई आचार्यों का मत है कि वार्तिक में रूपादि ग्रहण रेफादि का उपलक्षणार्थ है। इससे 'अहोरम्यम्' इत्यादि में भी रुत्व हो जाता है।]

२८८—रोऽसुपि ॥ ८ । २ । ६६ ॥

जो सुप से भिन्न कोई उत्तरपद परे हो तो अहन् शब्द के नकार को र आदेश होता है। इसमें यह विशेष है कि जहाँ र होता है

यहाँ स्त्व भी होता है', और जहाँ र होता है वहाँ स्त्व नहीं होता । जैसे—अहन् + ददाति = अहर्ददाति, अहन् + भुङ्क्ते = अहर्भुङ्क्ते इत्यादि ।

इस पर यह वात्तिक है—

२८६—वा०—अहरादीनां पत्यादिषु ॥

महा० ८ । २ । ७० ॥

जो अहन् आदि शब्दों में रेफ होता है उसके स्थान में एक पक्ष में रेफ को रेफ ही हो जावे पति आदि शब्द परे हों तो । [उसका] प्रयोजन यह है कि एक पक्ष में रेफ को विसर्जनीय और एक पक्ष में रेफादेश होता है । जैसे—अहर्पतिः, अहःपतिः, गीर्पतिः, गीःपतिः, धूर्पतिः, धूःपतिः इत्यादि ।

२६०—वा०—छन्दसि भाषायां च प्रचेतसो राजन्युपसंख्यानम् ॥ महा० ८ । २ । ७० ॥

लौकिक और वैदिक प्रयोगों में प्रचेतस् शब्द के सकार को राजन्य शब्द के परे र आदेश विकल्प करके होता है । पक्ष में रेफ आदेश हो जावेगा । जैसे—प्रचेतस् + राजन् = प्रचेतोरान्, [प्रचेता राजन्] ।

२६१—वसुसंसुध्वंस्वनडुहां दः ॥ ८ । २ । ७३ ॥

जो पदान्त और अवसान में वसुप्रत्ययान्त और ससु, ध्वंसु और अनडुह शब्द हों तो उनको दकागदेश होता है । वसुप्रत्ययान्त—विद्वस् + आसनम् = विद्वदासनम् । सेदिवम् + आगमनम् = सेदिव-दागमनम् इत्यादि । उस्वास् + अत्र = उस्वास्वत्र, पर्णध्वस् + अत्र

१ हसि च (सन्धि० २५४) आदि से ।

= पणध्वदत्र इत्यादि । अनडुह + इच्छा = अनडुदिच्छा; अनडुह + वलङ्घनम् = अनडुदुलङ्घनम् इत्यादि ।

अब जहां रु के पूर्व अच् को अनुनासिक होता है उसका प्रकरण लिखते हैं—

२६२—अत्राऽनुनासिकः पूर्वस्य तु वा ॥ ८।३।२॥

यह सूत्र अधिकार के लिये है । जहां-जहां आगे रु विधान करेंगे वहां-वहां रु के पूर्व वर्ण को विकल्प करके अनुनासिक होगा ।

२६३—आतोऽटि नित्यम् ॥ ८।३।३॥

जो वेदों में अट् प्रत्याहार के परे रु से पूर्व आकार हो तो उसको अनुनासिक नित्य ही हो जावे । जैसे—सूर्यवङ् महौ असि, देवौ आसादयादिह ।

२६४—अनुनासिकात् परोऽनुस्वारः ॥ ८।३।४॥

जिस पक्ष में रु से पूर्व [वर्ण को] अनुनासिक नहीं होता वहां उससे पूर्व वर्ण से परे अनुस्वार [का आगम] हो जाता है । जैसे—विद्वान् + चिनोति = विद्वान्चिनोति ।

२६५—वा०—विभाषा भवद्भगवदघवतामो-

द्यावस्य ॥

महा० ८।३।१॥

वेदों में विभ्रूप करके भवत्, भगवत्, अघवत् शब्दों के अन्त को रु और अब भाग को ओकार आदेश होता है । जैसे—भवत् +

१ यद्यपि इस सूत्र में छन्द की अनुवृत्ति कहीं से नहीं आती तथापि यह सूत्र 'दीर्घादटि समानपादे' (सन्धि० १३०) सूत्र विहित 'र' के विषय में नित्य अनुनासिकत्व का विधान करता है । 'दीर्घादटि०' सूत्र में 'ऋधु' की अनुवृत्ति है अतः यहाँ वृत्ति में 'वेदों में' शब्द रखते हैं ।

एहि = भो एहि, भवन्नेहि; भगवत् + एहि = भगो एहि, भगवन्नेहि;
अघवत् + याहि = अघो याहि, अघवन् याहि, इत्यादि ।

अब सुट् प्रकरण को लिखते हैं जो कि इसी ऋ प्रकरण से सम्बन्ध रखता है ।

२६६—सुट् कात् पूर्वः ॥ ६ । १ । १३३ ॥

यह अधिकार सूत्र है । यहां से आगे जहां-जहां सुट् का विधान करेंगे वहां-वहां यह ककार से पूर्व होगा ।

२६७—अडभ्यासव्यवायेऽपि ॥

जिसको सुट् का आगम विधान करें उसको अट् और अभ्यास के व्यवधान में भी ककार से पूर्व सुट् होवे ।

२६८—संपर्युपेभ्यः करौतौ भूपणे ॥ ६ । १ । १३४ ॥

भूपण अर्थ में सम्, परि, वप इन वपसर्गों से कृ धातु का कोई प्रयोग परे हो तो उसके ककार से पूर्व सुट् का आगम होता है । जैसे—सम् + कराति = सम् + सुट् + करोति = संस्क्रोति । वक्त (२९७) सूत्र से अट् क व्यवधान में—सम् + अ + करोत् = समस्क्रोत्, सम् + अकार्षात् = समस्कार्षात् । अभ्यास के व्यवधान में—सम् + चक्रत् = सञ्चस्क्रत्, सम् + चकद = सञ्चस्कद, इत्यादि । परि + सुट् + करोति = परिष्करोति । जो यहा दन्त्य सकार को गूढेभ्यः हो जाता है इसका विषय आख्यातिक ग्रन्थ के १ त्वप्रकरण में लिखा है । परि + अ + सुट् + करोत् = पर्येस्करोत्,

१. यह काशिकानुसारी पाठ है । महाभाष्य (६ । १ । १३३) में 'अडभ्यासाय उपसंख्यानम्, अभ्यासव्यवाये च' दो धात्विक हैं ।

२. परिनिविध्यः सेवसितसयसिषुसहसुट्सुखआम् (भा० ८२०) सूत्र में पठ्य होता है ।

पर्यङ्करोत् । ये दो प्रयोग पत्व के विकल्प में होते हैं । उप+सुट्+करोति = उपस्करोति, उपस्कारः, उपस्कृता, उपस्कृतम्, इत्यादि ।

अथ सम् के मकार को क्या होना चाहिये सो लिखते हैं—

२६६—समः सुटि ॥ ८ । ३ । ५ ॥

सुट् परे हो तो सम् के मकार को ह आदेश हो ।

इस सूत्र से ह आदेश होकर विसर्ग प्राप्त हुआ, इसका अपवाद यह धार्तिक है—

३००—घा०-संपुंकानां सत्वम् ॥ महा० ८ । ३ । ५ ॥

सम्, पुम्, कान् इनके ह को सकार ही होता है । ह को जो सकार मिया है उससे पूर्वे वर्ण को अनुनासिक और (पक्ष में उस से परे) अनुस्वार उक्त सूत्र में मममना । अनुनासिक पक्ष में—सँस्फरोति, सँस्फरोति । यहाँ पक्ष में एक सकार का लोप भी हो जाता है । सँस्फारः, सँस्फारः । जहाँ दो सकारों में एक को द्विर्धन होगा है वहाँ तीन मकार भी हो जाते हैं—सँस्फारः । अनुनासिक न हुआ तो 'सँस्फारः, मँस्फारः, सँस्फारः' ये छः प्रयोग होते हैं ।

प्रतियन्त्र अर्थात् जो किसी व्यवहार में अनेक गुणों का आरोपण करना, वैकृत अर्थात् विकार को प्राप्त होना, वाक्याध्याहार अर्थात् जो जानने योग्य अर्थ है उसके जानने के लिये वाक्य बोलना । इन तीन अर्थों में जो उप उपसर्ग मे परे क धातु का प्रयोग हो तो ककार से पूर्व सुट् का आगम हो । प्रतियन्त्र—उपस्कृते एघोदकस्य । वैकृत—उपस्कृत मुङ्क्ते । वाक्याध्याहार—उपस्कृतं व्रते, इत्यादि ।

३०३—किरतौ लवने ॥ ६ । १ । १३७ ॥

लवन अर्थात् काटने अर्थ में जो क धातु का प्रयोग हो तो उप उपसर्ग से परे उसके ककार से पूर्व सुट् आगम होता है । जैसे—उप + किरति । यद्वा ककार से पूर्व सुट् होकर—कृगीवलः क्षेत्रमुपस्किरति । अट् के व्यवधान में—उपास्किरत् । अभ्यास के व्यवधान में—उपचरकरतु ।

३०४—हिंसायां प्रतेश्च ॥ ६ । १ । १४८ ॥

हिंसा अर्थ में उप तथा प्रति उपसर्ग से परे क धातु का प्रयोग हो तो ककार से पूर्व सुट् का आगम होता है । जैसे—उपस्किरति जीवान्, प्रतिष्किरति जीवान्, इत्यादि ।

३०५—अपाच्चतुष्पाच्छ्रकुनिष्वालेग्वने ॥

६ । १ । १३६ ॥

चतुष्पात् अर्थात् चार पगवाले घोड़ा, हाथी, ऊट, बकरी, गौ आदि और शकुनि अर्थात् मोर, तीतर, मुर्गा आदि, ये कर्ता हों तो अप उपसर्ग से परे क धातु के ककार से पूर्व सुट् का आगम होता है, [आलेखन अर्थात्] करोदना अर्थ सूचित होता हो तो ।

३०६—वा०—किरतेर्हर्षजाविकाकुलायकरणे-

द्विवति चक्षुष्यम् ॥

महा० ६ । १ । १३९ ॥

हर्ष = आनन्दित होना, जाविका = कुत्र प्राप्ति की इच्छा करना, कुलायकरण = किसी का आश्रय लेना। इन तान अर्थों में वक्त मुट् का आगम होता है। हर्ष—अपस्क्रित वृषा हृष्ट। वैन जय आनन्दयुक्त हात हैं ता सींगों से भूमि को करादा करत हैं। जाविका—अपस्क्रिते कुङ्कुम भक्ष्यार्थी। मुरगे क्षुधातुर होकर अपनी वाच से भूमि का करादा करत हैं। कुलायकरण—अपस्क्रित आश्रयार्थी। कुत्ता आश्रय अथात् शरण चाहता हुआ भूमि का करादता है, इत्यादि।

३०७—कुस्तुम्बुरुणि जातिः । १६ । १ । १४०॥

यहा जाति अर्थ म कुस्तुम्बुरुद शब्द क सकार स पूर्व का मुट् का आगम निपातन किया है। कुस्तुम्बुरुद किंसा आपधि का नाम है उसके फल—कुस्तुम्बुरुणि फलानि। यहा 'जाति' ग्रहण इसलिय है कि—'कुस्तुम्बुरुणि फलानि, यहा मुट् न हुआ।

३०८—अपरस्पराः क्रियासातत्ये ॥६॥१॥१४१॥

क्रिया क निरन्तर हान म अपरस्परा' यह शब्द निपातन किया है। अपरस्परा पठन्ति। निरूप और उत्तम विद्यार्थी लाग निरन्तर पढत हैं। यहा 'सातत्य' ग्रहण इसलिय है कि 'अपरपरा गच्छन्ति अनियम से चलत हैं। यहा मुट् न हुआ।

३०९—या०—समो हितततयोर्वा लोप ॥

महा० १ १ । १ । ४१ ॥

हित और तत शब्द क परे सम् के मकार का लाप विकल्प करक होता है। सहितम्, सहितम्, सततम्, सततम्। इसा सतत शब्द स सातत्य बनता है। जहा लाप नहीं हाता वहा मकार को अनुस्वार होकर विकल्प से परसवर्ण मी हा जाता है'। [जैसे—सन्ततम्, सततम्] ।

३१०—वा०—समृतुमुनोः कामे लोपो वक्तव्यः

॥ महा० ६।१।४१ ॥

जो काम शब्द परे हो तो सम् और तुमुन् प्रत्यय के मकार का लोप होता है। सम्+काम = सकाम। भोक्तुम्+कामः = भोक्तुकाम, इत्यादि।

३११—वा०—अवश्यम् कृत्ये लोपो वक्तव्यः

॥ महा० ६।१।४१ ॥

जा कृत्य प्रत्ययान्त शब्दों के परे पूर्व अवश्यम् शब्द हा तो उससे मकार का लोप हो जावे। अवश्यम्—भाव्यम्, अवश्यभाव्यम्, अवश्यलाव्यम्, इत्यादि। इन वार्तिकों का यहाँ प्रसंग नहीं था, परन्तु इसी (३०८) सूत्र पर थे इसलिये लिख दिये हैं।

३१२—गोष्पदं सेवितासेवितप्रमाणेषु ॥ ६।

१।१४२ ॥

सेवित, असेवित और प्रमाण अर्थ का वाचक 'गोष्पदम्' यह निपातन किया है। सेवित—गाष्पदो दश। ऐसा यद्वा विमह होना चाहिये कि—गाव पश्वन्त प्राप्यन्ते यत्र तन् गोष्पदम्। असेवित—गोष्पदमरणम्। प्रमाण—गोष्पदपूर घृणो मेघ। यद्वा इन अर्थों का प्रदण इसलिय है कि 'गो पदम् = गोपदम्' यद्वा सुट् न हुआ।

३१३—आस्पदं प्रतिष्ठायाम् ॥ ६।१।१४३ ॥

प्रतिष्ठा अर्थ में 'आस्पदम्' यह निपातन किया है। आस्पद स्थिरमालम्बम्। यद्वा भी पद शब्द के पूर्व सुट् हुआ है। यद्वा 'प्रतिष्ठा' प्रदण इसलिये है कि 'आपदमप्रतिष्ठा प्राप्तो देवदत्त' यद्वा न हुआ।

३१४—आश्चर्यमनित्ये ॥ ६ । १ । १४४ ॥

अनित्य अर्थात् जो कभी कभी हो सन्देश न हो । इस अनित्य अर्थ में 'आश्चर्यम्' यह निपातन किया है । 'आ + चर्यम्' यहाँ चकार से पूर्व सुट् हो जाता है—आश्चर्यमिदं कर्म । 'अनित्य' ग्रहण इसलिये है कि 'आचर्यं सत्यम्' यहाँ न हुआ, क्योंकि सत्य का आचरण नित्य करना चाहिये ।

३१५—वर्चस्केऽवस्करः ॥ ६ । १ । १४५ ॥

वर्चस्क अर्थात् अन्न के मल अर्थ में, 'अवस्कर' यह निपातन किया है । यहाँ 'वर्चस्क' ग्रहण इसलिये है कि 'अवस्कर' यहाँ न हुआ ।

३१६—अपस्करो रथाङ्गम् ॥ ६ । १ । १४६ ॥

रथ के अङ्ग अर्थात् अवयव अर्थ में 'अपस्कर' यह शब्द सुट् सहित निपातन किया है । यहाँ 'रथाङ्ग' ग्रहण इसलिये है कि 'अपस्कर' यहाँ न हुआ ।

३१७—विष्किरः शकुनिर्वा ॥ ६ । १ । १४७ ॥

शकुनि अर्थात् पक्षी अर्थ में विपूर्वक किर शब्द के ककार से पूर्व सुट् का आगम विकल्प करके निपातन किया है । विष्किर, किर । दोनों पक्षिविशेष के नाम हैं ।

३१८—ह्रस्वाच्चन्द्रोत्तरपदे मन्त्रे ॥ ६ । १ । १४८ ॥

वैदिक शब्दों में ह्रस्व से परे चन्द्र शब्द हो तो उसके चकार से पूर्व सुट् का आगम होता है । सुश्चन्द्रा युष्मान् । सु + चन्द्र = सुश्चन्द्र । ह्रस्व से परे इसलिये कहा है कि 'पराचन्द्र' इत्यादि में न हुआ । 'उत्तरपद' ग्रहण इसलिये है कि समास में ही सुट् का आगम हा । इससे 'शुक्रमसि चन्द्रमसि' यहाँ न हुआ ।

१ पूर्वपद उत्तरपद का व्यवहार समास में ही होता है । अतः उत्तरपद ग्रहण से यहाँ समास में सुट् का आगम का विधान समझना चाहिये ।

३१६—प्रतिष्कशश्च कशेः ॥ ६ । १ । १४६ ॥

यहां प्रतिपूर्वक कश धातु का 'प्रतिष्कशः' यह शब्द निपातन किया है। प्रति+कशः = प्रतिष्कशः। यहां ककार से पूर्व सुट् और सकार को मूर्धन्यादेश निपातन से हुआ है।

३२०—प्रस्कण्वहरिश्चन्द्रावृषी ॥ ६ । १ । १५० ॥

ऋषि अर्थ में 'प्रस्कण्वः, हरिश्चन्द्रः' ये दोनों शब्द सुट् आगम के साथ निपातन किये हैं। अर्थात् ये दोनों ऋषि के नाम हैं। जहां और किसी के नाम होंगे वहां सुट् न होगा, [प्रकण्व, हरिचन्द्र] इत्यादि।

३२१—मस्करमस्करिणौ वेणुपरिव्राजकयोः ॥

६ । १ । १५१ ॥

मस्करः (घांस की लकड़ी) और मस्करि (उसको धारण करने वाला संन्यासी), ये दोनों शब्द वेणु और परिव्राजक अर्थ में निपातन किये हैं। जहां इनसे अन्य अर्थ हो वहां मकरः = धूर्तता और मस्करि = धूर्त मनुष्य का नाम जानना।

३२२—कास्तीराजस्तुन्दे नगरे ॥ ६ । १ । १५२ ॥

कास्तीर और अजस्तुन्द, ये दो शब्द नगर अर्थ में निपातन किये हैं। अर्थात् किसी नगर के नाम हो वहां इन दो शब्दों के तकार से पूर्व सुट् होता है। कास्तीर नाम नगरम्, अजस्तुन्द नाम नगरम्। अन्य अर्थों में 'कास्तीरम्, अजस्तुन्दम्' ऐसा ही रहेगा।

३२३—पारस्करप्रभृतीनि च संज्ञायाम् ॥ ६ ।

१ । १५३ ॥

जहां पारस्कर आदि शब्द संज्ञा अथवा किसी के नियत नाम होते हैं वहां इन में सुट् का आगम किया है। जैसे—पारस्करः।

यहा प्रशान् का निषेध इसलिये है कि 'प्रशान्छिनत्ति' 'प्रशान्चेतति' यहा रु आदेश न हुआ । 'छब्' ग्रहण इसलिये है कि 'भवान् वदतु' यहा न हुआ । अम्पर ग्रहण इसलिये है कि 'भवान् त्सरति' यहा न हुआ ।

३२६—उभयथर्तु ॥ ८ । ३ । ८ ॥

पूर्व सूत्र से नित्य प्राप्त रु आदेश का इस सूत्र से विकल्प किया है । अम्परक छब् प्रत्याहार के परे ऋग्वेद म नकारान्त पद क नकार का रु आदेश हा विकल्प करके हो । जैसे—तस्मिन्त्वा दधाति, तस्मिन्त्वा दधाति । जिस पद में रु नहीं होता वहा नकार बना रहता है—तस्मिन्त्वा, दधाति इत्यादि ।

३३०—दीर्घादटि समानपादे ॥ ८ । ३ । ६ ॥

दीर्घ से परे पदान्त नकार को अट् प्रत्याहार के परे समानपाद अर्थात् एकपाद में रु आदेश हो ऋग्वेद में विकल्प करके । जैसे—जनों अचुच्यवीतन । यहा रु को यकार होके लोप' हो जाता है । गिरिरिचुच्यवीतन । यहा लोप न होने से अकार में रेफ मिल गया । विकल्प ग्रहण इसलिये है कि—आदित्यान् याविषामहे । यहा रु आदेश न हुआ । रु के पूर्व [का] अनुनासिक नित्य होता है सो लिख चुके हैं, परन्तु वह दीर्घ आकार को ही नित्य होगा ईकार ऊकार को विकल्प करक होगा । परिधाँ रति, परिधौरति, वसूरिह, वसूरिह, त्वग्ने वसूरिह रुद्रा आदित्या उत इत्यादि ।

३३१—नृन् पे ॥ ८ । ३ । १० ॥

जो पकारादि उत्तरपद परे हो तो नन् शब्द के नकार का विकल्प करक रु आदेश हाता है । अन्य कार्य सब पूर्व के तुल्य जानता । जैसे—नँ पिपत्ति, नँःपिपत्ति, नृ पिपत्ति, नृः

पिपरी। एक पक्ष में 'नन् पिपत्ति' इत्यादि। यहां पकारादि ग्रहण इसलिये है कि 'नन् भोजयति' यहां कुछ भी विकार नहीं होता।

३३२—स्वतवान् पायौ ॥ ८ । ३ । ११ ॥

पायु शब्द परे हो तो स्वतवान् शब्द के नकार को ह आदेश निरुत्प करके होता है। जैसे—भुवस्तस्य स्वतवाः पायुरग्रे, स्वतवान् पायुः, इत्यादि। यहां सब कार्य पूर्ववत् होते हैं।

३३३—कानाऽन्नेद्धिते ॥ ८ । ३ । १२ ॥

आन्नेद्धित अर्थान् द्वितीय कान् शब्द परे हो तो कान् शब्द के नकार को ह आदेश होता है। जैसे—कान्+कान्। यहां ह होकर 'संपुंकानां सत्वम्' इस वार्त्तिक से जिह्वामूलीय और विसर्जनीय को बाधकर सकार ही हो जाता है, कांस्कान्।

इतीरितस्तन्धिविधिं महामुने—

निशम्य सन्धेर्विषयस्सतां मुदे ।

सुखेन तज्जात्रप्रवृत्तयेऽनया

मयार्यया कन्धितयार्यभाषया ॥ १ ॥

इति श्रीमत्स्वामिदयानन्दसरस्वती-

प्रणीतार्यभाषाविवृत्तिसहित-

स्तन्धिविषयस्समाप्तः ।

सन्धिविषये व्याख्यातानां सूत्रशास्त्रिकानां वर्णानुक्रम-सूची

सूत्र	क्रमाङ्क	सूत्र	क्रमाङ्क
अ इ उ ए	२	अनाचि च	२२२
अकः सवर्णे दीर्घः	१३०	अनन्त्यस्यापि प्रश्नाख्यानयोः	५०
अक्षादूहिन्याम्	१३६	अनामन्वदिनगरीणां	२१६
अमीत् प्रेपणे परस्य च	३७	अनुदात्तं प्रश्नान्ताभिः	४५
अङ्ग इत्यादौ च	१६५	अनुदात्ते च कुधपरे	१६६
अङ्गयुक्तं तिङाकाङ्क्षम्	४१	अनुनासिकात् परोऽनुस्वारः	२९४
अचः परस्मिन् पूर्वविधौ	९१	अनुस्वारस्य ययि परसवर्णे	१९७
अचश्च	१११	अनेकार्तिशत् सर्वस्य	८५
अचोऽन्त्यादि टि	६७	अन्तादिवञ्च	११५
अचो रद्भाभ्यां द्वे	२२१	अपरस्पराः क्रियासातत्ये	३०८
अङ्गभ्यासव्यवाये ऽपि	२९७	अपरस्मरौ रथाङ्गम्	३१६
अणुदित् सवर्णस्य०	१०६	अपाठचतुष्पाच्छकुनि	३०५
अतः कृकमिक् सङ्कुम्भ०	२७६	अप्लुतवदुपस्थिते	१७७
अतो गुणे	१५३	अभ्यासजश्चत्वं	१२७
अतो रोरप्लुतादप्लुते	२४८	अन्तरुधरस्तरिभ्युभयथा०	२८५
अत्रानुनासिकः पूर्वस्य तु वा	२९२	अलोऽन्त्यस्य	८६
अथ शब्दानुशासनम्	१	अलोऽन्त्यात् पूर्व उपधा	६८
अदर्शने लोपः	६६	अवङ् स्फोटायनस्य	१६९
अदसो मात्	५८	अवपयासि च	१६७
अदेङ् गुणः	१९	अवश्यमः कृत्ये लोपो०	३११
अधः शिरसि पदे	२७७	अवमाने च	२२५
अध्वपरिमाणे च	१८३	अन्यक्तानुकरणस्यात इतो	१५४

सूत्र	क्रमाङ्क	सूत्र	क्रमाङ्क
अव्यादवशादक्षप्रमु०	१६२	ईदूदेद्विवचनं प्रगृह्यम्	५७
अगूढस्त्रयसूयकेष्विति०	७२	इन्द्रे च नित्यम्	१७०
अहम्	२८६	इसुसोः सामर्थ्ये	२७४
अहरादीनां पत्यादिपु	२८९	ईदूतौ च सप्तम्यर्थे	६४
आहोऽनुनासिकश्छन्दसि	१७२	ईपा अक्षादिपु चच्छन्दसि०	१७५
आह्माहोश्च	२०९	ई ३ चाक्रवमणस्य	१७८
आटश्च	१४२	उगिद् वर्णग्रहणवर्जम्	११०
आतोऽटि नित्यम्	२९३	छन्न ऊँ	६३
आदिरन्त्येन सहेता	१७	उन्नि च पदे	२५३
आदे. परस्य	८८	उदः पूर्वत्वे स्कन्देश्छ०	२३७
आद् गुण.	१३३	उद. स्थास्तम्भोः पूर्वस्य	२३६
आद्यन्तवदेकस्मिन्	७९	उपरि सिद्धासीदिति च	४७
आद्यन्तौ टकितौ	८०	उपसगोटति धातौ	१४३
आपो जुपाणो वृष्णो०	१६४	उपात् प्रतियन्नवैकृत०	३०२
'आमन्त्रिते छन्दस्युपसंख्यानम्	५५	उभयथक्षु	३२९
आग्नेहितं भर्त्सने	४०	उरण रपर	८५
आश्चर्यमनित्ये	३१४	उस्यपदान्तात्	१५२
आस्पद प्रतिष्ठायाम्	३१३	ऊका नोऽज्मस्वदीपेष्टत	६९
इको गुणवृद्धौ	७८	अ लृ क्	३
इको यणचि	१७९	अकारलृकारयोः सवर्णविधि	२३
इकोऽसवर्णे शाकस्यस्य ०	१७३	अणदशाभ्या च	१४१
इहाया वा	२८४	अति अ वा वचनम्	१३१
इणः पः	२६८	अते च तृतीयासमासे	१३९
इतावनेकाज्ग्रहणम्	१५५	अथकः	१७६
इदुदुपपद्य चाप्रत्ययस्य	२७०	लुति लृ वा वचनम्	१३२

सूत्र	क्रमाङ्क	सूत्र	क्रमाङ्क
निपात एकाजनाङ्	६०	प्राप्तुम्पतौ गविकर्तरि	३२५
निष्ठादेशः षत्वस्वर०	१२४	प्रादय उपसर्गाः क्रिया०	७३
नन् पे	३३१	प्रादूढोढोढ्येबैष्येषु	१३७
पञ्चम्याः परावभ्यर्थे	२८१	प्रायस्य चित्तिचित्तयोः०	३२६
पदान्ताद्वा	२११	श्रुतप्रगृह्या अचि	१७१
परः सन्निकर्षः संहिता	७५	श्रुतावैच इदुतौ	५१
पातौ च बहुलम्	२८२	प्रतिश्रुतिविधौ द्वे च	१२५
पारस्परप्रभृतीनि च०	३२३	महिप्रेष्यभौपङ्क्वौपङ्क्वा०	३६
पितृयोयवचनस्य च छा०	१०३	भय्यप्रवच्ये च च्छन्दसि	१८७
पुंमुटुसोः प्रतिषेधः	२७१	भोभगोअघोअपूर्वस्य०	२४९
पुमः स्वय्यमपरे	३२७	भोगजन्यविशां वा	२८
पूर्व तु भाषायाम्	४३	मय चमो वो वा	२०५
पूर्वत्रासिद्धम्	११८	मस्करमस्करिणी वेणु०	३२१
पूर्वत्रासिद्धे च	९५	मिदचोऽन्त्यात्परः	८१
प्रकृत्यान्तः पादमध्यपरे	१६१	मुत्सनासिकावचनो०	२१
प्रणवप्रेः	३४	मोऽनुस्वारः	१९१
प्रतिप्रवणे च	४४	मो राजि समः कौ	१९३
प्रतिषेधे स्वार्थपे०	९३	यजुप्युरः	१६३
प्रतिष्कशश्च परोः	३१९	यथासक्यमनुदेशः०	११२
प्रत्यभिधादेऽशूद्रे	२६	यरोऽनुनासिकेऽनुना०	२१९
प्रत्ययलोपे प्रायय०	९७	यरोऽनुनासिके प्रत्यये०	२२०
प्रवत्सतरकम्यनपसनानां०	१४०	यकन्मरे यथहा वा	१९५
प्रश्नान्ताभिपूजितविचार्य०	५३	याअयान्ः	३५
प्रश्नस्यहरिरचन्द्रादृषी	३२०	येन विधिम्नदन्ताम्य	१०८
प्राग्वीभराक्रियाः	७१	ये यद्वकर्मणि	३१

सूत्र	क्रमाङ्क	सूत्र	क्रमाङ्क
रुत्वविधावद्गोरुप०	२८७	वृद्धिरेचि	१३४
रोः काम्ये नियमार्थम्	२६७	व्योर्लोघुप्रयत्नतरः शाक०	२५०
रोगे चेति वक्तव्यम्	२३८	शकन्भादिपु च	१४७
रो रि	२५६	शरः खयः	२२४
रोऽसुपि	२८८	शरो ऽचि	२३०
ल य्	७	शर्परे विसर्जनीयः	२६१
लोपः शाकल्यस्य	२५१	शर्पकरणे खर्परे लोपः	२६३
वर्चस्केऽवस्करः	३१५	शश्छोऽटि	२४०
वसुसुध्वंस्वनहुदां वः	२२१	श प स ः	१४
वाक्यस्य षेः पूत उदात्तः	२५	शात्	२१८
वान्तो यि प्रत्यये	१८१	शि लुक्	२०३
वा पदान्तस्य	१९८	शे	५९
वा शरि	२६२	श्चुत्वं धुङ् विधौ	१२६
षा शर्पकरणे खर्परे लोपः	२६३	पत्त्वतुकोरसिद्धः	११६
षा सुप्यापिशलेः	१४४	पष्ठी स्थानेयोगा	८३
वा हतजगधयोः	२८८	पष्ट्याः पतिपुत्रपृष्ठ०	२८३
विचायेमाणानाम्	४२	ष्टना ष्टः	२१४
विप्रतिपेधे परं कायेम्	११४	संपर्युषेभ्यः करोती भूपणे	२९८
विभाषा पृष्टप्रतिवचने द्वेः	३८	संपुंकानां सत्वम्	३००
विभाषा भवद्भगवदघवता०	२९५	संप्रसारणहीट्सु सिद्धः	११७
विरामोऽवसानम्	७६	संप्रसारणाच्च	१५९
विश्वजनादीनां छन्दस्यु०	२१२	संबुद्धौ शाकल्यस्येतावनापे	६२
विष्किरः शकुनिर्वा	३१७	संयोगादिलोपः संयोगा०	१२३
विसर्जनीयस्य सः	२६०	संयोगान्तलोपो रोरुत्वे	१२१
वृद्धिरादैच	१८	संहितायाम्	२०७

सूत्र	क्रमाङ्क	सूत्र	क्रमाङ्क
सम. सुटि	२९९	स्थानेऽन्तरतमः	८४
समर्थे. पदविधि.	७७	स्यश्छन्दसि बहुलम्	२४६
समवाये च	३०१	स्य रूपं शब्दस्या०	१०१
समासप्रत्ययविधौ	१०९	स्वतवान् पायी	३३२
समो हिततयोर्वा लोपः	३०९	स्वरितमाश्रितेऽसूया०	४८
समनुमुनो. कामे लोपो०	३१०	स्वरितेनाधिकारः	११३
सर्वत्र विभाषा गो.	१६८	स्वादिरेरिणो	१३८
सर्वत्र शाकल्यस्य	२३२	ह य ष र ट्	६
ससजुषो रु	२४४	ह ल्	१५
सिबलोप एकादेशे सिद्धो०	१२२	हलन्त्यम्	१६
सित्तद्विशेषाणा घृष्टार्थम्	१०२	हलि सर्वेषाम्	२५५
सिन्नित्यसमासयो.०	१७४	हलोऽनन्तराः सयोग	२०
सीमन्त. केशेषु	१४८	हलो यमां यमि लोप	२४२
सुट् कात् पूर्व	२९६	हशि च	२५४
सुप्तिङन्त पदम्	७०	हिंसाया प्रतेश्च	३०४
साऽचि लोपे चेत०	२४७	हे मपरे वा	१९४
साऽपदादावनन्ययस्य	२६६	हैहेप्रयोगे हैहयो	३०
सोऽपदादौ	२६५	हृदय्या आप उपसख्यानम्	१८८
स्तो श्चुना श्चु	२१३	ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्	२०६
स्थानिवदादेशोऽनस्त्विधौ	९०	ह्रस्वाच्चन्द्रोत्तरपदे मन्त्रे	३१८

संशोधनपत्रम्

पृष्ठ	पङ्क्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४	५	और कभी	और न कभी
१६	२	यज्ञकाण्ड	याज्याकाण्ड
२५	९	प्रत्यय	प्रत्यय
२७	८	यहां ओष्ठस्थानी गम धातु के	यहां गम धातु के ओष्ठस्थानी
२९	१९	(आ० ६।१।७०)	(सन्धि २०६)
४०	११	चिकीर्षे	चिकीर्ष
४४	१५	कि स्थानी	कि [कार्य करने के लिये] स्थानी
४९	१५	पुष्पमित्र	पुष्पमित्र
५०	२	चवौ'	चवौ'
५५	२१	से।एकादेश	से पूर्व रूप एकादेश
५७	१९	प्रत्ययभा०	प्रत्यये भा०
५९	११	वा—सुप्या	वा सुप्या
६२	१७	स्तोश्चुना	स्तोः श्चुना
६४	१८	मधु + उर्णा	मधु + ऊर्णा
६६	५	रक्ष	रक्षा
७२	२	गुणवाची	गुणसंज्ञक
७७	२२, २५	कुमारी	कुमारि
७९	७	माम	माल
९३	१४	नित्ये वचनम्	नित्यवचनम्
९५	७	अप्सराः	अप्सरः
९६	९	अप्सरा	अप्सरः
९९	६	'अग्निः'	
११६	९	वेदों में	
१२१	१८	गोपदमरस्यम्	

सूत्र	क्रमाङ्क	सूत्र	क्रमाङ्क
समः सुटि	२९९	स्थानेऽन्तरतमः	८४
समर्थः पर्दाविधिः	७७	स्यश्छन्दसि बहुलम्	२४६
समवाये च	३०१	स्व रूपं शब्दस्या०	१०१
समासप्रत्ययविधौ	१०९	स्वतवान् पायी	३३२
समो हिततयोर्वा लोपः	३०९	स्वरितमाग्नेदितेऽसूया०	४८
समतुमुनोः कामे लोपो०	३१०	स्वरितेनाधिकारः	११३
सर्वत्र विभाषा गोः	१६८	स्वादिरेरिणो	१३८
सर्वत्र शाकल्यस्य	२३२	ह य व र ट्	६
ससजुपो रु	२४४	ह ल्	१५
सिब्लोप एकादेशे सिद्धो०	१२२	हलन्त्यम्	१६
सित्तद्विशेषाणां वृत्ताद्यर्थम्	१०२	हलि सर्वेषाम्	२५५
सिन्नित्यसमासयोः०	१७४	हर्जोऽनन्तराः संयोग	२०
सौमन्तः केशेषु	१४८	हलो यमां यमि लोप	२४२
सुट् कात् पूर्वः	२९६	हशि च	२५४
सुप्तिङन्तं पदम्	७०	हिंसायां प्रतेश्च	३०४
सोऽ चि लोपे चेत्०	२४७	हे मपरे वा	१९४
साऽपदादावनव्ययस्य	२६६	हैहेप्रयोगे हैहयो	३०
सोऽपदादौ	२६५	हृदय्या आप उपसंख्यानम्	१८८
स्तो श्चुना श्चुः	२१३	ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्	२०६
स्थानिवदादेशोऽनल्लिख्यौ	९०	ह्रस्वाच्चन्द्रोत्तरपदे मन्त्रे	३१८

संशोधनपत्रम्

पृष्ठ	पङ्क्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४	५	- और कभी	और न कभी
१६	२	यज्ञकाण्ड	याज्ञिकाण्ड
२५	९	प्रत्यय	प्रत्यय
२७	८	यहां ओष्ठस्थानी गम	यहां गम धातु
		धातु के	के ओष्ठस्थानी
२९	१९	(आ० ६।१।७०)	(सन्धि २०६)
४०	११	चिकीर्ष	चिकीर्ष
४४	१५	कि स्थानी	कि [कार्य करने के
			लिये] स्थानी
४९	१५	पुष्पमित्र	पुष्पमित्र
५०	२	चवौ'	चवौ'
५५	२१	से एकादेश	से पूर्वरूप एकादेश
५७	१९	प्रत्ययभा०	प्रत्यये भा०
५९	११	वा—सुप्या	वा सुप्या
६२	१७	स्तोरचुना	स्तोः रचुना
६४	१८	मधु + ऊर्णा	मधु + ऊर्णा
६६	५	रत्न	रत्ना
७२	२	गुणवाची	गुणसंज्ञक
७७	२२, २५	कुमारी	कुमारि
७९	७	माम	माल
९३	१४	नित्ये वचनम्	नित्यवचनम्
९५	७	अप्सराः	अप्सराः
९६	९	अफ्सरा	अफ्सराः
९९	६	'अग्निः'	'अग्निः'
११६	९	वेदों में	वेदों में'
१२१	१८	गोष्पदमरश्यम्	अगोष्पदमरश्यम्

संस्कृत व्याकरण पढ़ने वालों के लिये

अपूर्व अवसर

वेदाङ्ग-प्रकाश का शुद्ध संस्करण

वेदाङ्गप्रकाश के शुद्ध और सुन्दर संस्करण की आवश्यकता का अनुभव चिरकाल से किया जा रहा था। वेदाङ्गप्रकाश के कई भाग गजनमेन्द संस्कृत कॉलेज बनारस की परीक्षाओं के पाठक्रम में स्वीकृत हो गये हैं। अतः हमने मण्डल की ओर से इन के शुद्ध, सुन्दर और छात्रोपयोगी टिप्पणियों से युक्त संस्करण छपवाने का व्यवस्था की है।

१—सन्धिविषय—छप गया। मूल्य ॥१॥

२—आख्यातिक—छप रहा है। शीघ्र प्रकाशित होगा। शेष भाग भी यथासंभव शीघ्र प्रकाशित होंगे।

प्रबन्धकर्त्ता—

आय साहित्य मण्डल लि०, अजमेर.